पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका
अंक : 25 नवम्बर-दिसम्बर 2009

संपादक
भारत भारद्वाज

सह-संपादक
रामजी यादव

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता

अंक : 25 नवम्बर-दिसम्बर 2009

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

© सम्बन्धित लेखकों द्वारा
पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र दिल्ली।

यह अंक : 20 रु.
वार्षिक सदस्यता : 120 रु.
दिल्ली से बाहर के चेक के लिए वार्षिक 145 रु. और द्वैवार्षिक 265/- मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।
चेक/ड्रॉफ्ट कृपया क्षेत्रीय केंद्र, म.गां.अ.हि.वि., नई दिल्ली के नाम से भेजें।

बिक्री और वितरण केन्द्र
प्रकाशन विभाग,
क्षेत्रीय केंद्र
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेज-II, नई दिल्ली-110020
टेली-011-26387365 E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com

संपादकीय संपर्क
क्षेत्रीय केंद्र
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय,
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेज-II, नई दिल्ली-110020
टेली-011-41613875
मो.-09313034049 E-mail : bhardwaj_bharat@yahoo.com

PUSTAK-VĀRTĀ
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post Manas Mandir, Panchtila, Wardha-442001 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण-सज्जा : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय		5
मैं और पुस्तकें	: पुस्तकों से मेरा रिश्ता/ **शिव कुमार मिश्र**	7
उपन्यास	: 'अ' अस्तु का/ **ज्योत्स्ना मिलन** **जहाँ प्रकृति एक दोस्त की तरह है**/ ज्ञानप्रकाश विवेक	10
उपन्यास	: ध्रुव सत्य/ **द्रोणवीर कोहली** **विभाजन के बाद का सच**/ अर्चना त्रिपाठी	11
उपन्यास	: देश निकाला/ **धीरेंद्र अस्थाना** **संत्रास, संघर्ष और संकल्प की गाथा**/ सुशील सिद्धार्थ	13
कहानी	: ईस्ट इंडिया कंपनी/ **पंकज सुबीर** **उत्तर भूमंडलीकरण और कथा में प्रयोगशीलता**/ राजकुमार सैनी	15
कहानी	: दूसरे दौर में/ **दीपक शर्मा** **स्त्री विमर्श का दूसरा दौर**/ हितेश कुमार सिंह	17
कहानी	: मुन्ना बैंडवाले उस्ताद; कैरियर, गर्लफ्रेंड और विद्रोह; सौरी की कहानियाँ और अकथ / **शिवदयाल, अनुज,** **नवीन कुमार नैथानी, रणविजय सत्यकेतु** **कहानी के बदलते तेवर**/ अशोक मिश्र	19
कविता	: कवि ने कहा (कविता शृंखला)/ **विजेंद्र, ऋतुराज,** **विष्णु खरे, उदय प्रकाश और विष्णु नागर** **हिन्दी कविता आजकल : दो**/ हरदयाल	22
कविता	: ललमुनियां की दुनिया/ **दिनेश कुमार शुक्ल** **मनुष्यता की रात में जगहर की पदचाप**/ रेवती रमण	25
संस्मरण	: 23 लेखिकाएँ और राजेंद्र यादव/ **सं. गीताश्री** **राजेंद्र यादव पर अंतिम बोली लगाने का** **समय अभी नहीं आया है**/ कांति कुमार जैन	27
संस्मरण	: कविवर बच्चन के साथ/ **अजीत कुमार** **स्वीकार्य और विश्वसनीय छवियाँ**/ मधुरेश	30
संस्मरण	: स्वदेश के फिराक/ **भवदेव पांडेय** **फिराक की 'गोरखपुरी' खोज**/ श्रीप्रकाश शुक्ल	32
विरासत	: **ब्रज की विभूति पण्डित राधाचरण गोस्वामी**/ रामनिरंजन परिमलेंदु	35
स्मरण	: गीत-शेष हो चले हरीश भादानी/ **मालचंद तिवाड़ी**	38

साक्षात्कार	: **'दूसरा सप्तक' (1951) के तीसरे कवि हरिनारायण व्यास के सम्मुख**/ भारत भारद्वाज	40
दस्तावेज	: **काफ्का के कागजात**/ केट कोनोली	42
दस्तावेज	: **'मतवाला' कैसे निकला**/ शिवपूजन सहाय	44
अन्यत्र	: **पोथी का सुख**/ शिवरतन थानवी	45
साहित्य कोलाहल	: **साहित्य कोलाहल**/ प्रज्ञाचक्षु	47
समय-जुलाहा	: **जनसिनेमा के दो बड़े आयोजन**/ कुबेर दत्त	51
आगमन	: अनलाइकली हीरो : ओमपुरी/ **नंदिता पुरी** **सेक्स सहित संघर्ष कथा**/ अनंत विजय	55
फिल्म-वार्ता	: 'वसुधा' : हिन्दी सिनेमा 20वीं से 21वीं सदी तक/ **सं. प्रहलाद अग्रवाल** **हिन्दी सिनेमा की उपलब्धियों का दस्तावेज**/ मुकेश कुमार	57
प्रतिध्वनि	: पत्र-प्रतिक्रिया	59

संपादकीय

हिन्दी लेखकों के राष्ट्रीय स्मारक, वसीयतनामा और निजी पुस्तकालय

हजार वर्षों की भारतीय संस्कृति के निर्माण में लेखकों, कवियों, दार्शनिकों, चिन्तकों, धर्मगुरुओं और राजनेताओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। लेकिन खेद की बात यह है कि हमने लेखकों और कवियों को भुला दिया है। आज देश में शायद ही कहीं हिन्दी लेखकों का कोई राष्ट्रीय स्मारक है। यह सिर्फ सरकार की जिम्मेदारी नहीं है। बल्कि हिन्दी-भाषी जनता भी इसके लिए उत्तरदायी है। यह कैसी विडम्बना है कि भारतेन्दु युग से लेकर आजादी मिलने तक जिन लेखक-कवियों ने भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना जगाने की कोशिश की आजादी के बाद उन्हें याद नहीं किया गया। और तो और खुद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आज कोई राष्ट्रीय स्मारक कहीं नहीं है। भारतेन्दु मण्डल के अनन्य सदस्य उपाध्याय पण्डित बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमधन', जिन्होंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचक का मार्ग-निर्देशन किया, उनकी स्मृति में उनके गृह नगर मिर्जापुर में प्रेमघन मार्ग तो है लेकिन कोई राष्ट्रीय स्मारक नहीं। आज किसी को ठीक से पता नहीं, उनके पुस्तकालय का क्या हुआ? बालकृष्ण भट्ट, केशवराम भट्ट, पण्डित प्रताप नारायण मिश्र और बाल मुकुन्द गुप्त जैसे आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माताओं के कोई स्मारक भी कहीं ढूँढे नहीं मिलेंगे। हिन्दी साहित्यकारों की सरकारी उपेक्षा का यह दुखद अध्याय है।

सम्पूर्ण भारत में सम्भवतः झाँसी एकमात्र ऐसा रेलवे स्टेशन है जिसके पोर्टिको के ठीक सामने हिन्दी के तीन महान साहित्यकारों आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त और बाबू वृन्दावनलाल वर्मा की आवक्ष प्रतिमा लगी है क्योंकि इन तीनों कालजयी साहित्यकारों की कर्मभूमि झाँसी रही है। वैसे आचार्य म.प्र. द्विवेदी आई.एम.रेलवे बनने के बाद झाँसी में टेलिग्राफ इंस्पेक्टर बनाकर भेजे गए थे। जब आई.एम. रेलवे जी.आई.पी. रेलवे में मिला दी गई उन्हें पुनः बम्बई जाना पड़ा। लेकिन फिर वे झाँसी लौटे, जहाँ वे डिस्ट्रिक्ट सुपरिटेंडेट के दफ्तर में पाँच साल रहे। बाद में उन्होंने अंग्रेज ऑफिसर की बदसलूकी के कारण इस्तीफा दे दिया। यह 1904 ई. का साल था। द्विवेदी जी तब तक 'सरस्वती' का सम्पादन-भार सम्भाल चुके थे। रेलवे की नौकरी से उन्हें तब कुल दो सौ रुपये प्रतिमाह मिलते थे। लेकिन ऐसी आय वाली नौकरी को लात मार देना मामूली बात न थी। 'सरस्वती' से उन्हें हर माह तेईस रुपये मिलते थे बीस रुपये पारिश्रमिक के और तीन रुपये डाक खर्च के।'

काशी नागरी प्रचारणी की वर्तमान स्थिति चिन्ताजनक है, जिसकी ओर देश-विदेश के विद्वानों ने अपना विरोध जताते लगातार संस्कृति मन्त्रालय का ध्यान आकृष्ट किया है। उसी तरह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल संस्थान, बनारस, जो उनके उत्तराधिकारियों द्वारा निर्मित किया गया था, अब कानूनी दाँव-पेंच का अखाड़ा बन गया है।

भारत की राजधानी दिल्ली में आज किसी बड़े हिन्दी लेखक का कोई राष्ट्रीय स्मारक नहीं है। बेशक यहाँ टालस्टाय मार्ग है और रवीन्द्र भवन (नोबेल पुरस्कार प्राप्त साहित्यकार रवीन्द्रनाथ टैगोर के नाम से निर्मित) साहित्य अकादेमी परिसर के बाहर रूसी कवि पुश्किन की आदमकद प्रतिमा लगी है। बहादुरशाह जफर के नाम पर एक सड़क है, तमिल के कवि सुब्रह्मण्यम भारती के नाम पर भी एक मार्ग है। उड़िया उपन्यास के पितृ पुरुष फकीर मोहन सेनापति के नाम से दक्षिण दिल्ली के मोती बाग में एक छोटी सड़क है। लेकिन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, निराला, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय, मुक्तिबोध के नाम पर न कोई सड़क है न कोई राष्ट्रीय स्मारक है। अभी राजनीतिक प्रभाव के कारण पुरानी पीढ़ी की विस्मृत गद्य लेखिका दिनेशनन्दिनी डालमिया के नाम पर दिल्ली में एक सड़क का नामकरण किया गया है और भारत सरकार के डाक विभाग ने उन पर एक डाक टिकट भी जारी किया है। विडम्बना की बात यह है कि दिल्ली के चौक-चौराहे, गली और मोहल्ले, विश्वविद्यालय और स्टेडियम, अस्पताल, वन-उपवन राजनेताओं के नाम से जगमगा रहे हैं। ऐसी स्थिति में यह सोचना गलत होगा कि भारत के सांस्कृतिक इतिहास में हिन्दी लेखकों और कवियों की कोई भूमिका नहीं रही है। किसी महान लेखक के नाम पर स्मारक, सड़क का नामकरण करना या डाक टिकट जारी करना महत्त्वपूर्ण नहीं है। कोई लेखक अपनी रचना के बल पर ही पाठकों की स्मृतियों में टिकेगा, लेकिन किसी उन्नत और

विकसित देश की सभ्यता और संस्कृति का बड़ा प्रतीक होता है लेखकों का राष्ट्रीय स्मारक। सच तो यह है कि हमारे देश के लेखक ही लोगों से बौद्धिक प्रेरणा पैदा कर सकते हैं। नई पीढ़ियों के बौनेपन के पीछे राष्ट्रीय स्मारकों का अभाव भी है।

यदि दुनिया के बड़े और छोटे देशों को हम देखें तो उनके मुख्य शहरों में लेखकों, कवियों की प्रतिमाएँ स्थापित हैं। रूस की बात छोड़ भी दें तो क्यूबा जैसे छोटे देश का अन्तरराष्ट्रीय हवाई अड्डा ला हवाना में वहाँ के प्रमुख साहित्यकार जोस मार्टिन के नाम पर है। अपने लेखकों को सम्मान देने में रूस का कोई मुकाबला नहीं है। तोलस्तोय, तुर्गनेव, गोर्की, मायकोवस्की, दोस्तोवस्की, निकोलाई आस्त्रोवस्की, शोलोखोव जैसे प्रमुख लेखकों के स्मृतिचिह्नों को सँजोकर उन्हें राष्ट्रीय स्मारक में बदलकर रूस ने न केवल अपने लेखकों को सच्ची श्रद्धांजलि दी है बल्कि उनको एक प्रेरक महत्त्व भी प्रदान किया है। 'यूलिसिस' के लेखक जेम्स जॉयस के नाम पर तो बाकायदा एक रेस्त्रां बनाया गया है। कवि पाब्लो नेरूदा और क्रान्तिकारी चेग्वेरा आज भी कैप और टोपी पर चिह्नित मिल जाएँगे। पूरे विश्व में उनके प्रति दीवानगी लगातार बनी हुई है। इंग्लैण्ड में शेक्सपियर अपनी पूरी कद-काठी के साथ विराजमान है।

सवाल उठता है कि हमारे देश में जहाँ गाँधी के चश्मे का एक रेखांकन उनके व्यक्तित्व और विचार को रूपायित कर देता है क्या वहाँ के लेखक इतने कान्तिहीन और व्यक्तित्वहीन हैं कि उनके प्रचुर लेखन से कोई रेखांकन ही नहीं उभरता? क्या साहित्य की राजनीति के आगे चलने वाली मशाल कोई छवि नहीं बनाती? ये ऐसे सवाल हैं जिन पर गम्भीरता से विचार किए जाने की जरूरत है।

यहीं म.गा.अ.हि.वि., वर्धा के परिसर में महात्मा गाँधी की प्रतिमा के साथ खड़ी बोली के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रतिमा लगाने की भी जरूरत है, जिन्होंने गाँधी से भी बहुत पहले हिन्दी को लेकर एक सपना देखा था 'अपने उद्योग से एक शुद्ध हिन्दी की यूनिवर्सिटी स्थापित करना।' दरअसल हमारे देश की सांस्कृतिक फिजा में कोई प्रेरक तत्व नहीं है। राजनीतिक सत्ता आज स्वयं जिन रीढ़हीन लोगों के हाथ में हैं वे कोई इच्छाशक्ति नहीं रखते, न ही उनके संस्कार साहित्यिक हैं। वे लेखकों की भूमिका और महत्त्व को नहीं जानते। क्या भारत की तथाकथित ज्ञानसत्ता इस कसौटी पर अपने को कभी कसने को तैयार होगी?

भारत के संस्कृति मंत्रालय के एजेंडे पर राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्यकार बिल्कुल नहीं हैं और मंत्रालय को लेखकों के राष्ट्रीय स्मारक की चिन्ता भी नहीं है। उसी तरह लेखकों को वसीयतनामे और राष्ट्रीय हित में उनके निजी पुस्तकालय का सदुपयोग भी उनकी दृष्टि से ओझल है। बेशक 'हंस' सम्पादक राजेन्द्र यादव जब तब लिखा करें खुला पत्र राजनेताओं के नाम। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

आज से लगभग 50 साल पहले 8 अक्टूबर सन् 1959 को जब कालजयी कथाकार प्रेमचन्द की 25वीं पुण्यतिथि मनाई गई थी तब उनके गाँव लमही में देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने प्रेमचन्द स्मारक भवन की आधारशिला रखी थी। लेकिन 46 वर्षों के बाद भी इस स्मारक को पूरा नहीं किया जा सका। यहाँ तक कि लमही में प्रेमचन्द के बचे हुए स्मृति-चिह्न लगातार नष्ट हो रहे हैं लेकिन प्रायः तमाम आयोजनों और ड्रामेबाजी के बावजूद इस पर सरकार और खासकर संस्कृति मंत्रालय का ध्यान नहीं जाता।

पिछले दिनों प्रेमचन्द की 125वीं जयंती के अवसर पर फिर संस्कृति मंत्रालय में थोड़ी-सी सुगबुगाहट हुई। इस बीच वरिष्ठ पत्रकार प्रभाष जोशी, साहित्यकार प्रो. कल्याणमल लोढ़ा, प्रो. कुँवरपाल सिंह, कवि-पत्रकार रामकृष्ण पाण्डेय और शारदा पाठक हमसे बिछुड़े। इन सबको हमारी अश्रुपूरित श्रद्धांजलि। अंत में सरकार की ओर से फिर बड़े लम्बे-चौड़े दावे किए गए आश्वासन दिए गए लेकिन हुआ कुछ नहीं। साहित्यकारों की सरकार द्वारा की जा रही निरन्तर उपेक्षा दरअसल हमारे सांस्कृतिक विरासत की भी उपेक्षा है। जिस पर हिन्दी बौद्धिक समाज को गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है।

जहाँ तक हिन्दी लेखकों के वसीयतनामे की बात है। अभी हमारे तीन लेखकों विष्णु प्रभाकर (दिल्ली), हरीश भदानी (बीकानेर, राजस्थान) और प्रो. कुंवरपाल सिंह (अलीगढ़, उ.प्र.) ने मृत्युपरान्त अपना शरीर क्रमशः एम्स, बीकानेर के मेडिकल कॉलेज एवं अलीगढ़ के मेडिकल कॉलेज को दान करके अभूतपूर्व काम किया। यह अच्छी बात तो है ही, एक नई सांस्कृतिक परम्परा की शुरुआत है। भविष्य में कुछ और लेखक भी इस दिशा में पहल करेंगे।

हमारी चिन्ता वरिष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण लेखकों के निजी पुस्तकालय को लेकर भी है। पहले ही हमने बहुत मूल्यवान खो दिया है। लेकिन जो बचा है उसे संस्कृति मंत्रालय बचा ले। मेरा सुझाव है कि मंत्रालय हिन्दी के बड़े लेखकों के समृद्ध निजी पुस्तकालय को राष्ट्रीय हिन्दी संग्रहालय में सुरक्षित करने की पहल करे। यह बड़ा काम होगा। लखनऊ में ज्ञानचन्द्र जैन की बड़ी लाइब्रेरी थी। लेखकों के वसीयतनामे पर भी गौर करना चाहिए। हमें सिर्फ यह निवेदन करना है कि संस्कृति मंत्रालय भी इस दिशा में सक्रिय हो। हिन्दी साहित्य के वैभव और अवदान को सुरक्षित करने के लिए संस्कृति मंत्रालय कोई हिंदी विशेषज्ञ नियुक्त करे।

मैं और पुस्तकें

पुस्तकों से मेरा रिश्ता

शिवकुमार मिश्र

बिना किसी भूमिका के, सीधे बात करूँ, तो पाठ्य-पुस्तकों से इतर किसी पुस्तक से मेरा पहला रिश्ता तब बना, जब मैं कानपुर नगर के एक ख्यात और पुराने मुहल्ले पटकापुर में रहता था और चौथी कक्षा का छात्र था। पिता, कानुपर के बड़े डाकखाने में मुलाजिम थे, पटकापुर मुहल्ले में एक किराए के मकान में रहते थे। सन् 1939-1940 का समय था। पिताजी के दो अन्य भाई भी कानपुर में ही डाकखाने के मुलाजिम थे और पास के मुहल्लों में रहते थे। बाबा गाँव के अपने खेत-जमीन-घर, गाँव के अपने ही एक साथी ठा. रघुराजसिंह के सिपुर्द कर कानपुर में ही, अपने बेटों के साथ बारी-बारी से रहते थे। पटकापुर पुराना और ख्यात मुहल्ला था। संभ्रान्त और सक्रिय लोगों का। उस समय के ख्यात समाजवादी मजदूर नेता गणेश दत्त वाजपेयी, क्राइस्ट चर्च कॉलेज, कानपुर के इतिहास के अध्यापक डॉ. लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी आदि प्रतिष्ठित व्यक्ति भी उसी मुहल्ले में थे। हम लोग अपने किराए के मकान में ऊपरी मंजिल में थे। नीचे की मंजिल में एक कमरे को छोड़कर, शेष हिस्से में ठा. श्यामसिंह नाम के एक सज्जन रहते थे, मेरे पिता के परिचित। वे कानपुर के 'प्रताप' कार्यालय में किसी अच्छे पद पर थे। खादी पहनते थे और स्वाधीनता-सेनानी भी रहे थे। गणेश शंकर विद्यार्थी जी की हत्या के बाद प्रताप प्रेस का कार्यभार उनके पुत्र श्री हरिशंकर विद्यार्थी देखते थे, जिनसे ठा. श्यामसिंह के अच्छे सम्बन्ध थे। निचली मंजिल के कमरे में मेरे बाबा का आवास होता था, जब वे हमारे यहाँ रहने को आते थे। बाबा की आँखों की रोशनी कम होती जा रही थी। स्वाधीनता-संग्राम में वे सक्रिय तो नहीं थे, परन्तु मन से पूरी तरह समर्पित थे। ठा. श्यामसिंह से उनकी खूब पटती थी। प्रताप प्रेस से प्रकाशित होने वाले 'दैनिक प्रताप' अखबार को नियमित किसी से रोज सुनते थे। जब मेरे यहाँ होते, मेरी जिम्मेदारी थी कि मैं उन्हें पूरा अखबार पढ़कर सुनाऊँ।

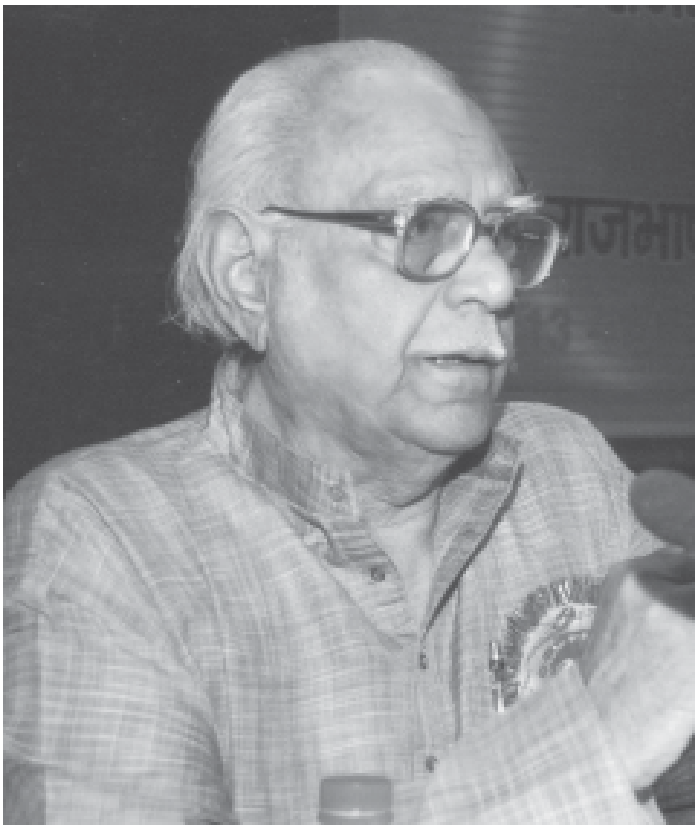

शिव कुमार मिश्र

घर के पास ही एक प्रशस्त मन्दिर-परिसर था बिहारी जी के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध। मन्दिर के अलावा वहाँ पुस्तकालय बाल पुस्तकालय भी था। बच्चों के खेल-कूद की व्यवस्था थी। मुहल्ले के बच्चे, संभ्रांत जन सब प्रातःकाल और संध्या को वहाँ एकत्र होते। बच्चे खेलते-कूदते और युवा तथा बुजुर्ग वहाँ राजनीति की, स्वाधीनता-संग्राम की, दीगर घटनाक्रमों की चर्चा करते, अखबार तथा पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ते। मैं भी प्रतिदिन संध्या को घंटा-दो-घंटा वहीं बिताता, खेल-कूद में या बड़ों की बातें सुनने में। मैं वहाँ के बाल-पुस्तकालय का सदस्य भी बन गया। पाठ्य-पुस्तकों से इतर जो पहली किताब पुस्तकालय से अपने नाम पर ली, उसका नाम था, 'गौरव-गाथा'। वस्तुतः वह इस नाम की एक पुस्तक-शृंखला की कड़ी थी। चार-पाँच भागों में, सरल-भाषा में समूचे महाभारत का वृत्तान्त उस पुस्तक-शृंखला में था। मुझे पुस्तक पसन्द आई और उसके चारों-पाँचों भाग मैंने पढ़ डाले। इस तरह चौथी कक्षा में ही मैं महाभारत के समूचे आख्यान से परिचित हो चुका था। जो कुछ उस समय मेरे बाल मन पर अंकित हुआ था, वह आज तक मेरी स्मृतियों में उसी ताजगी के साथ जीवित है।

एक दिन घर की निचली मंजिल में रहने वाले ठा.श्यामसिंह जी ने, जिन्हें मैं 'ठाकुर साहब' सम्बोधित करता था, मुझे दो पुस्तकें दीं, इस हिदायत के साथ कि मैं उन्हें बाबा को दे दूँ तथा और किसी से इस बात की चर्चा न करूँ। मैंने उनसे किताबें लेकर बाबा को दे दीं। बाबा ने भी

मुझसे कहा कि बाहर मैं किसी से इस बात की कोई चर्चा न करूँ। बाबा ने मुझसे कहा कि संध्या को प्रतिदिन मैं उन पुस्तकों के दस-पन्द्रह पृष्ठ उन्हें नियमित रूप से पढ़कर सुनाऊँ। क्रम चलने लगा। वे पुस्तकें प्रताप-प्रेस से छपने और वितरित की जाने वाली, स्वाधीनता-आन्दोलन से सम्बन्ध रखने वाली, 'गुप्त' किस्म की पुस्तकें थीं, उनके लेखकों का नाम कहीं नहीं था और किताबों का नाम भी नहीं था। बस पाठ्य-सामग्री भर थी। पुस्तकें पढ़कर बाबा को सुनाने के दौरान मैंने जाना कि उनमें क्रान्तिकारी संगठनों से जुड़े स्वाधीनता-सेनानियों की गतिविधियों, उनके क्रियाकलापों के किस्से थे, उनके पत्र, वक्तव्य, सन्देश न जाने क्या-क्या उनके नाम से उनमें प्रकाशित था। भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, बिस्मिल आदि के बारे में, बड़े-बुजुर्गों की उस समय की बातों से, स्वयं अपनी ओर से भी, थोड़ा-बहुत तो जानता था, परन्तु क्रान्तिकारी संगठनों की गतिविधियों तथा क्रान्तिवीरों के क्रियाकलापों की इतनी विशद और गहरी जानकारी मुझे नहीं थी। यह तो बाद में पता चला कि स्वाधीनता-आन्दोलन के दिनों में 'प्रताप-प्रेस' क्रान्तिकारियों का अड्डा हुआ करता था और स्वाधीनता-आन्दोलन से जुड़ी तमाम सामग्री 'प्रताप-प्रेस' में गुप्त रूप से छापकर समूचे देश में वितरित की जाती थीं। बाबा की, इस गुप्त-साहित्य में बेहद दिलचस्पी थी। ठा. श्यामसिंह के जरिए वह उन्हें बराबर मिलती रहती थी। इस तरह की तमाम पुस्तकों से मैं उस समय गुजरा, चौथी-पाँचवीं कक्षा के छात्र के रूप में। पाठ्य-पुस्तकों से इतर पुस्तकों से, उस अवस्था में होने वाला, यह मेरा दूसरा परिचय था। क्रान्तिकारियों के साहस और देशभक्ति के भाव से लबालब भरे क्रियाकलाप, उनकी शहादत, उनके ओजस्वी कथन मेरे बाल-मन में बराबर कौंधते रहे, कालांतर में जो अपने सारे निहितार्थों के साथ, मेरे लेखन की प्रेरणा तो बने ही जिन विचारों से मैं आगे के समय में जुड़ा, जिनके साथ उम्र के इस दौर तक बना हूँ, उनका आधार भी बने।

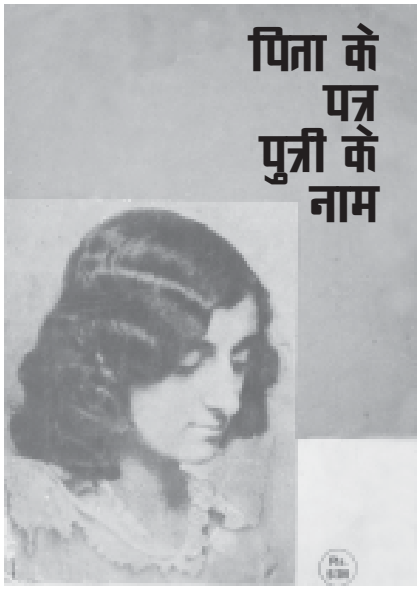

मेरे पिता तथा चाचा लोगों ने अब तक कानपुर नगर के दूसरे छोर पर सीसामऊ नामक मुहल्ले में अपने निजी मकान बनवा लिए थे, फलतः पटकापुर छोड़कर हम लोग, सीसामऊ अपने मकान में आ गए। यह सन् 1942 ई. के 'भारत-छोड़ो' आन्दोलन का दौर था। मैं घर के पास के ही हर सहाय जगदम्बा सहाय हाईस्कूल में छठवीं कक्षा का छात्र था। पास में ही चाचा का मकान भी था। वहाँ जाता तो उनके घर से लगे एक-दूसरे घर में नरेन्द्र विद्यार्थी नामक युवा वकील साहब रहते थे। उनके घर में उनके नामपट्ट के अलावा एक और नामपट्ट लगा था 'कमला नेहरू परिषद' का। वकील साहब स्वाधीनता-आन्दोलन से जुड़े थे। जब-तब मुझसे बातें भी करते थे। एक दिन उन्होंने मुझे 'कमला नेहरू परिषद' के बारे में बताया और उसका सदस्य बनने को कहा। उनकी परिषद में बालकों से जुड़े कार्यक्रम भी थे एक पुस्तकालय भी था। मैं सहर्ष उसका सदस्य बन गया। मुझे सबसे पहले जो किताब उन्होंने पढ़ने को दी उसका नाम था 'पिता के पत्र पुत्री के नाम।' यह पं. जवाहर लाल नेहरू द्वारा, जेल से, अपनी पुत्री इन्दिरा नेहरू के नाम लिखे गए पत्रों का संकलन थी। मैं बड़ी रुचि से पूरी पुस्तक पढ़ गया। अभी तक ऐसे पत्रों से परिचय था जिनमें घर-परिवार की बातें होती थीं। पहली बार एक पिता के, अपनी पुत्री को लिखे ऐसे पत्र पढ़े जिनमें देश-दुनिया की बातें थीं, स्वाधीनता-आन्दोलन से जुड़ी चर्चा थी। नरेन्द्र विद्यार्थी जी के ही जरिए मुझे ऐसी अनेक पुस्तकें पढ़ने को मिलीं, जिनसे स्वाधीनता संघर्ष में पं. नेहरू के समूचे परिवार, पिता-माता पत्नी कमला नेहरू आदि के योगदान को जाना। नेहरू जी के प्रति मन में आदर भाव तो पहले से था, जो कुछ इन किताबों में पढ़ा उनसे भी नेहरू और उनके परिवार के प्रति आदर और श्रद्धा के भाव गाढ़े हुए। खासतौर से श्रीमती कमला नेहरू के जीवन-सन्दर्भ मुझे कभी नहीं भूले।

एक दिन घर-परिवार के साथ घर के पास के सिनेमा घर में फिल्म देखने गया। कलकत्ते के 'न्यू थियेटर्स' की फिल्म थी नाम था 'छोटा भाई' या 'सौतेला भाई।' फिल्म बेहद मार्मिक थी। लगभग सारे दर्शक फिल्म देखते हुए रो रहे थे। बाद में नरेन्द्र विद्यार्थी जी को बताया, तो उनसे मालूम हुआ कि फिल्म शरत बाबू की किसी कहानी पर आधारित थी। शरद बाबू मेरी मनोभूमि में ऐसे छाए कि नरेन्द्र विद्यार्थी जी के जरिए और स्कूल के पुस्तकालय के जरिए उनकी जो भी किताबें मिलीं छठी-सातवीं कक्षा तक ही पढ़ डालीं 'देवदास', 'पथ के दावेदार', 'चरित्रहीन' आदि। गहराई से उन्हें भले न समझ पाया होऊँ, परन्तु शरत्चन्द्र पहले भारतीय कथाकार थे, जिनकी किताबें मैंने सबसे पहले पढ़ीं। कक्षा की हिन्दी की पाठ्य पुस्तक में दो कहानियाँ थीं एक प्रेमचन्द की 'परीक्षा' तथा दूसरी सुदर्शन की 'हार की जीत'। दोनों कहानियों ने बहुत प्रभावित किया था। सुदर्शन जी का साहित्य तो उस समय नहीं मिला, परन्तु प्रेमचन्द की लिखी तमाम पुस्तकें उनके कहानी-संकलन और उनके 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला', 'सेवासदन' तथा 'प्रेमाश्रम' उपन्यास मैं आठवीं कक्षा, अर्थात् सन् 1944 तक पढ़ चुका था, उस समय की अपनी कच्ची-पक्की समझ के साथ। उनके 'निर्मला' उपन्यास ने अवश्य मेरे बाल मन को बहुत अशान्त किया था। हमेशा यही सोचता काश, निर्मला की मृत्यु न हुई होती! आठवीं-नवीं कक्षा तक मेरी मनोभूमि में, साहित्यिकों में प्रेमचन्द और शरत्चन्द्र गहराई तक अपनी पैठ बना चुके थे। मैट्रिक की कक्षा तक पुस्तकों से मेरा सम्बन्ध कुछ और गाढ़ा हुआ। पाठ्यक्रम में मैथिलीशरण गुप्त की 'जयद्रथ-वध' के कुछ अंश थे। 'भारत-भारती' का भी कुछ हिस्सा था। 'जयद्रथ-वध' ने इतना प्रभावित किया कि वह मैंने पूरा का पूरा कंठस्थ कर लिया था। आज तक उसके कई टुकड़े कंठस्थ हैं। माखनलाल चतुर्वेदी की 'फूल की चाह', सुभद्रा कुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' कविताएँ भी कंठस्थ थीं। तब तक छायावाद के कवि प्रसाद, निराला या पंत इस तरह मेरी मनोभूमि का हिस्सा नहीं बन पाए थे, यद्यपि उनकी कविताओं के कुछ अंश भी पाठ्यक्रम में थे।

सन् 1946 ई. में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण कर, कानपुर के डी.ए.वी.कॉलेज में इंटरमीडिएट में प्रवेश लिया। पहली बार स्कूल के वातावरण से बाहर अधिक प्रशस्त वातावरण में, डी.ए.वी.कॉलेज जैसे ख्यात कॉलेज का छात्र बना था। स्वाधीनता आन्दोलन अपने आखिरी दौर में था। कॉलेज

में राजनीति की अच्छी-खासी गहमागहमी थी। उस समय छात्रों के तीन संगठन विशेष सक्रिय थे आर.एस.एस., कांग्रेस की 'स्टूडेण्ट्स कांग्रेस' तथा भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन स्टूडेण्ट्स फेडरेशन, जो 'स्टूडेण्ट्स यूनियन' के रूप में कॉलेज में अपनी गतिविधियों को अंजाम दे रहा था। छात्रों में जो सबसे मेधावी और तेजस्वी थे वे 'स्टूडेण्ट्स-यूनियन' से जुड़े थे। मेरी मनोभूमि भी वैसी थी, मैं स्टूडेण्ट्स यूनियन के प्रति आकर्षित हुआ, और उससे जुड़ गया। संगठन के वरिष्ठ साथियों का पूरा स्नेह मुझे मिला जिनमें श्री रामआसरे, जो कालान्तर में उत्तर प्रदेश ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष बने, सरदार निर्मल सिंह, सी.के. सादरी, सुल्तान कियानी जैसे लोग थे। ये सब मुझसे सीनियर थे। सुपठित और गम्भीर। जितने राजनीति में सक्रिय, उतने ही अपने अध्ययन के प्रति भी निष्ठावान! रामआसरे जी ने मुझे इस दौर की बहुत-सी किताबें पढ़ने को दीं साहित्य की एक नई और बड़ी दुनिया से मेरा परिचय कराया। इण्टर में यह मेरा पहला वर्ष था। देश को इसी वर्ष 1947 ई. में आजादी भी मिल चुकी थी। रामआसरे जी ने मुझे मैक्सिम गोर्की का 'माँ' उपन्यास तथा उनकी अन्य अनेक कृतियाँ 'मेरे विश्वविद्यालय', 'मेरा बचपन' आदि पढ़ने को दीं। चेखव और तुर्गनेव की कहानियाँ भी मैंने उन्हीं से पाई किताबों में पढ़ा, जिनमें वह 'शर्त' वाली कहानी भी थी अपने आलेख में, श्री हृदयेश ने जिसका जिक्र किया है। इण्टर की पढ़ाई करते हुए मैंने राहुल सांकृत्यायन और यशपाल की बहुत-सी किताबें पढ़ डाली थीं जिनमें राहुल की 'भागो नहीं, दुनिया को बदलो', 'तुम्हारी क्षय', 'सिंह-सेनापति' तथा यशपाल के 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप' आदि उपन्यास तथा कहानियाँ थीं। मार्क्सवाद-समाजवाद के मूलवर्ती ग्रन्थ तो बाद को पढ़े, मार्क्सवाद-समाजवाद की शुरुआती समझ राहुल तथा यशपाल जैसे लेखकों की किताबों से मुझे पहले मिली। इसी दौर में, कॉलेज में व्याख्यान के लिए आए राहुल सांकृत्यायन के दर्शन भी किए, प्रश्नोत्तर भी हुए, और इसी दौर में कॉलेज के छात्रावास के हुए एक कार्यक्रम में यशपाल को देखा, बातें की, विमर्श किया।

जिक्र करना चाहूँगा, ख्यात गाँधीवादी पं. सुन्दरलाल का, जो इंटर में अध्ययन करने के दौरान ही कॉलेज में व्याख्यान के हेतु आए हुए थे। उनके नाम से तो परिचित हो चुका था, उन्हें देखा-सुना नहीं था। व्याख्यान देते हुए सुन्दरलाल जी सन् 1857 ई. के महाविद्रोह की चर्चा करते हुए इतने भाव-विह्वल हो गए कि मंच पर ही फूट-फूटकर रोने लगे। प्रसंग था कानपुर नगर की उस समय की प्रसिद्ध तवायफ अजीजन का, जो घोड़े पर चढ़कर विद्रोही सैनिकों को रसद पहुँचाती थी। रामआसरे जी के जरिए पं. सुन्दरलाल की वह ख्यात पुस्तक पढ़ने को मिली जिसे अंग्रेज सरकार ने प्रतिबन्धित कर रखा था 'भारत में अंग्रेजी राज' भाग-1 तथा भाग-2।

इंटरमीडिएट के अन्तिम वर्ष अर्थात 1948 तक बच्चन जी मेरे अध्ययन के वृत्त में आ गए थे। मेरे एक चचेरे बड़े भाई, डॉ. रमेश कुंतल मेघ के सगे बड़े भाई द्रोणाचार्य मिश्र उस समय लखनऊ विश्वविद्यालय में बी.ए. (आनर्स) हिन्दी के छात्र थे। बच्चन जी को उन्होंने अपने यहाँ 'मधुशाला' का पाठ करते हुए सुना था। इतने प्रभावित हुए थे कि जब भी कानपुर आते हम लोगों के सामने गाते हुए 'मधुशाला' का पाठ करते। उनके जरिए बच्चन की 'मधुशाला', 'मधु-कलश' आदि पढ़ने को मिलीं। कानपुर में रहते हुए नवीन, सनेही जी आदि की कविताएँ भी इसी दौर में मैंने पढ़ीं।

प्रगतिशील लेखक संघ की कानपुर इकाई गठित हो चुकी थी। मैं सन् 1949 ई. में बी.ए. में आ चुका था। प्रगतिशील लेखक संघ की गतिविधियों में भी थोड़ी बहुत शिरकत थी। बी.ए. के अध्ययन के दौर में ही डॉ. रामविलास शर्मा को देखा-सुना। शील जी मेरे गाँव के पास के थे। उनसे घनिष्ठता हुई। करंट बुक डिपो प्रगतिशील साहित्य के विक्रय की ही दूकान थी। जिसका संचालन श्री महादेव खेतान करते थे। उन्हीं की दुकान में प्रगतिशील साथियों का जमावड़ा होता था, जहाँ पहुँचकर मैं भी अपने वरिष्ठों की बातें सुनता और जब तब हिस्सेदारी करता। करेंट बुक डिपो के माध्यम से सोवियत रूस तथा चीन से प्रकाशित तमाम साहित्य के अलावा हिन्दी तथा इतर भारतीय भाषाओं का श्रेष्ठ साहित्य पढ़ने को मिला।

बी.ए. में मेरे सहपाठियों में श्री देवीशंकर अवस्थी, नीरज आदि भी थे। देवीशंकर जी ने मुझे हिन्दी साहित्य के गम्भीर अध्ययन की ओर प्रेरित किया। प्रसाद, निराला, पंत, आचार्य शुक्ल, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आदि के ग्रन्थ बी.ए. तथा आगे एम.ए. के दौरान ही मनोयोगपूर्वक पढ़े। बी.ए. के अन्तिम वर्ष और आगे एम.ए. की कक्षा में पहुँचकर जोला, डिकेन्स, ओ.हेनरी, मोपांसा, टामस हार्डी, विक्टर ह्यूगो आदि के कुछ उपन्यास तथा कहानियाँ पढ़ीं। जैसे जैसे समय आगे बढ़ता गया, एम.ए. के उपरान्त, शोधकार्य के दौरान, तत्पश्चात सागर वि.वि. में अध्यापक बनने के साथ पुस्तकों से विश्व- साहित्य से जो रिश्ता बना, वह सघन ही होता गया। अध्ययन की जो जमीन बी.ए. तक, सन् 1950 तक तैयार हुई, वही आगे पुख्ता हुई।

बहरहाल, सन् 1948- 49, इंटर तथा बी.ए. कक्षा में प्रवेश के दौर तक का पुस्तकों से मेरे सम्बन्धों का यही संक्षिप्त इतिवृत्त है। आदमी के देखने- भोगने के लिए यह अनन्त रूपात्मक जगत, और आदमी का सीमित आयुष्य। हम सब इस संसार से किंचित मात्र ही परिचित होकर, अपूर्ण-आधे- अधूरे संसार से चले जाते हैं। किताबें हमारे अनुभव-विश्व को विस्तार देती हैं, उसे प्रशस्त और सघन करती हैं। हमारी अपूर्णता को, हमारे अवकाशों को भरती हैं। किताबों के जरिए हम दूसरों के, बड़े रचनाकारों के अनुभवों में हिस्सेदारी बँटाते हैं अपने को समृद्ध करते हैं। हमारे जीवन में किताबों की यही सार्थकता है। किताबें हमारे वैचारिक-क्षितिज, हमारे अनुभव-विश्व में बहुत कुछ जोड़ती हैं इस बात को दुहराते हुए किताबों से अपने सम्बन्धों की इस संक्षिप्त चर्चा को मैं विराम देता हूँ।

17, मानसरोवर पार्क, वल्लभ विद्यानगर-388120 (गुजरात) मो. 09429071338

जहाँ प्रकृति एक दोस्त की तरह है

ज्ञानप्रकाश विवेक

कुछ कृतियाँ कभी पुरानी नहीं होतीं। उन कृतियों पर न समय की गर्द जमा होती है, न बदलता परिवेश उनका कुछ बिगाड़ पाता है। वे अपना परिवेश खुद गढ़ती हैं। वे इतनी मौलिक होती हैं कि तमाम आज़मूदा शैलियाँ उनके सामने गैरजरूरी नजर आती हैं।

'अ अस्तु का' उपन्यास एक ऐसी ही कृति है।

दरहकीकत 'अ अस्तु का' उपन्यास एक ऐसी अदबी हैसियत (और विनम्र उपस्थिति) रखता है जो उन्नीस साल बाद भी, पुराने वक्तों को पछाड़ता हुआ, नए समय के नए मिजाज के साथ शामिल होकर, जीवन राग पैदा करता है। पूरे उपन्यास में एक राग है, जिन्दगी का राग। एक जश्न है कुदरत का। एक लय है मासूमियत की। एक कथ्य है, अस्तु के प्रश्नों का। सच मायने में उपन्यास में एक उत्सव भी है, अस्तु की जिज्ञासाओं का उत्सव।

पूरे उपन्यास में सिर्फ अस्तु है और उसका पर्यावरण है।

उपन्यास में भाषा का होना, भाषा के संगीत के होने जैसा है। इसी भाषा की सादगी और सादगी के भीतर अस्तु की प्रश्नाकुलता, जिज्ञासा, होने और न होने का सच, और कल्पनाशीलता, चेतना को स्पर्श करते चलते हैं। लेकिन यही सरलता और मासूयिमत और सादगी की तहरीर, कैफियत भी माँगते प्रतीत होते हैं। दुरूह और जटिल कृतियों की व्याख्या करना आसान होता है। लेकिन सादगी की व्याख्या कौन करे और कैसे करे? शायद यही वजह है कि इस उपन्यास पर कितना कुछ लिखें, फिर भी अस्तु के संसार को कम ही समझ पाएँगे? और यकीनन अस्तु की दुनिया का कोई-न-कोई कोना छूट ही जाएगा।

ऐसा शायद पहली बार हुआ है जब आसमान, पृथ्वी, समन्दर, हवा, धूप, पेड़, पत्थर, परिन्दे उपन्यास का अनासिर (यानी पाँच तत्व) कथ्य बन जाए और तिलिस्म ऐसा कि एक बालिका (अस्तु) की जिज्ञासाओं का संसार, पाठकों को अपने अन्दर गर्क कर दे।

सवाल है, अस्तु उपन्यास आज भी ताजादम कृति क्यों महसूस होता है। शायद इसलिए कि प्रकृति कभी पुरानी नहीं पड़ी। आसमान और पृथ्वी और समन्दर और पेड़ और उनका 'होना' पहले भी था। आज भी है। इनका होना ही तो उपन्यास का होना है। इनका होना, अस्तु का होना भी है।

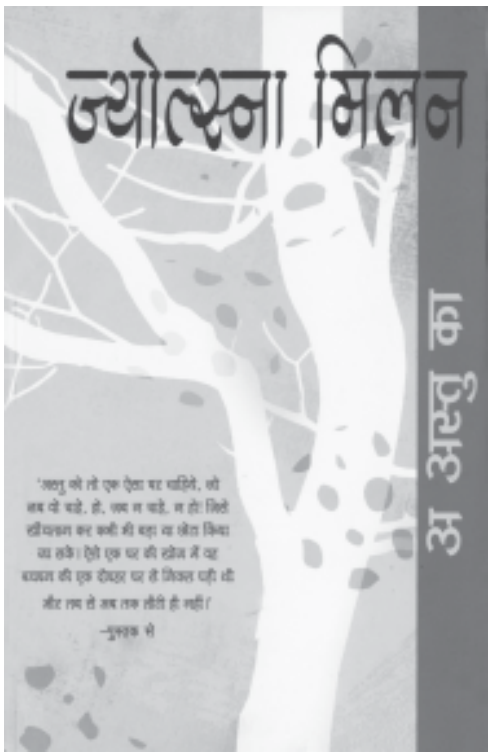

अ अस्तु है क्या? अस्तु यानी होना। अ, आसमान का होना। या अस्तित्व या आगाज या कुछ भी नहीं। सिर्फ आरम्भ! आरम्भ यानी आसमान! अस्तु जहाँ है वहाँ वह किसी उत्सव की तरह है। उसकी छुपम-छुपाई में उत्सव है तो आजी के पीछे छुपकर बैठने में भी अबोधता का उत्सव! लेकिन, हेमंत, संति, अतुल और बंटी के साथ संवाद, अस्तु की छोटी-सी (लेकिन विराट) दुनिया का तसव्वुर पैदा करते हैं। अस्तु हर बार एक नए रूप में मिलती है और हर बार चौंकाती है अपनी सादगी से, अपनी अल्हड़ता और मासूमियत से। उपन्यास में बचपन का उल्लास, किसी ठाठें मारते समन्दर की तरह नजर आता है। वैसे दिखता हर कहीं आसमान ही है। अस्तु भी आसमान ही देखना चाहती है।

कुछ पंक्तियाँ (पृ. 134) गौरतलब हैं "जब कभी बीमार पड़ती उसे दो ही चीजों की जरूरत लगती। उसका पक्का विश्वास था कि देखने को अगर आसमान या पेड़ या नदी-तालाब जैसी कोई चीज हो और खाने को हरी मिर्च के अचार के साथ ठंडी रोटी, तो उसका कैसा भी बुखार ठीक हो जा सकता है।...उसने शुरू में ही एक वसीयत लिखी थी मरते समय जो कोई मुझे समन्दर के किनारे, या पेड़-पौधों के बीच या कम-से-कम, खुले आसमान के नीचे ले जाकर लिटा देगा, वह मेरी कुल सम्पत्ति का मालिक होगा।... यह अलग सवाल है कि मेरे पास सम्पत्ति कितनी है? और यह बिलकुल ही दूसरा सवाल है कि आप किस चीज को सम्पत्ति मानें और किसे नहीं।

ज्योत्स्ना मिलन का लेखन बिल्कुल मुख्तलिफ और अपनी तरह का है। 'अ अस्तु का' उपन्यास में निजता है। एक स्त्री की

निजताओं का संसार। यह उपन्यास अपनी भाषा की लय, संगीतात्मकता और जीवंतता के लिए हर दौर में अपनी विशिष्ट पहचान बनाता रहेगा। इस उपन्यास को पढ़ना शिल्प के नए मिजाज से रू-ब-रू होना भी है। जिस तरह कविता को बार-बार पढ़ना कविता के नए अर्थ की तलाश का सबब बनता है। उसी तरह अ अस्तु का उपन्यास है। इसके कथानक या शिल्प या मुहावरे को हासिल करने के लिए, इस कृति को एक से अधिक बार पढ़ना अनिवार्य हो जाता है। हर बार भाषा की लय बाँध लेती है। उपन्यास की एक शानदार उपलब्धि और अदबी हासिल यह भी है कि उपन्यास अल्फाज की कारीगरी और तसव्वुर का खेल नजर आता है। लेकिन इस खेल के पस्मंजर एक स्त्री के अनेक सच भी हैं। खिलंदड़ी जिज्ञासाओं की यात्रा संजीदा घरेलूपन तक का सफर तय करती हुई कितने जटिल और बीहड़ रास्तों से गुजरती है, यह स्त्रियों का जटिल यथार्थ है जो अव्यक्त है। लेकिन है। ज्योत्सना मिलन अपनी रचनाओं को खामोशी की अनेक तहों में लपेटकर तहरीर करती हैं। आसमान केवल आसमान नहीं होता। वह स्त्रियों की स्वतन्त्रता का प्रतीक हो जाता है। पृथ्वी धैर्य का प्रतीक तो अन्धेरा भय का। पत्रिकाओं में पेड़ की पेंटिंग की खोज, किसी तलाश का बिम्ब है तो आषाढ़ का 'जुलाय' हो जाना एक दुर्घटना, मानो अपने मन का 'देहात' उजड़ गया हो। चिड़िया। घोंसला। पंखे का हुक। यानी घर। यानी एक तौफीक! यानी, कुछ बाहर का भीतर हो तभी घर! यह चकित कर देने वाला भाव ही उपन्यास का पाठ है।

इधर की अनेक कहानियों-उपन्यासों में बार-बार दोहरायी जाने वाली आक्रामकता, बनावटी व्यवस्था विरोध और शोर-शराबा दिखाई और सुनाई देता है। लेकिन 'अ अस्तु का' उपन्यास में एक विनम्र मौन है। यही मौन इस उपन्यास की व्याख्या है, यही मौन इसका अन्तर्पाठ। यही वजह है कि यहाँ शब्द और अर्थ, दोनों का संगीत है।

अ अस्तु का/ ज्योत्स्ना मिलन/ हार्पर कॉलिंस पब्लिशर्स इंडिया/ए-53, सेक्टर-57, नोएडा/ मूल्य : 125/-

ज्ञानप्रकाश विवेक, 1875, सेक्टर-6, बहादुरगढ़ (हरियाणा)-124507 मो. 09813491654

उपन्यास

विभाजन के बाद का सच

अर्चना त्रिपाठी

द्रोणवीर कोहली हिन्दी साहित्य का जाना-पहचाना नाम है। उनका लिखा मैं बहुत ध्यान से पढ़ती रही हूँ। उनके लेखन में हमेशा एक ऐसी प्रामाणिकता मिलती है जो सहज और बोधगम्य है। हिन्दी में बहुत-सा लेखन कृत्रिम और उबाऊ रहा है जबकि द्रोणवीर कोहली की कहानियाँ और उपन्यास दोनों सच के करीब और पठनीय रहे हैं। प्रस्तुत उपन्यास में विभाजन के बाद की सच्चाई, पीड़ा और यातना पाठकों को उद्वेलित करती है। 576 पृष्ठों में फैले इस बृहदकाय उपन्यास में पीड़ा अपनी पूरी तीव्रता से व्यक्त होकर झकझोरती है। निश्चय ही यह तीव्रता इसलिए झकझोरती है क्योंकि इसमें कुछ भी गढ़ा हुआ, बनावटी या आरोपित नहीं।

पूरा उपन्यास छः खण्डों में बँटा है जिसे लेखक ने उच्छ्वास कहा है। उच्छ्वास शब्द अपने आपमें कुछ खोने, कुछ नॉस्टैलिजिक होने का अहसास कराता है। पहला उच्छ्वास सायबान है, दूसरा उच्छ्वास काठ बाजार, तीसरा उच्छ्वास टैगोर रोड, चौथा उच्छ्वास फराशखाना, पाँचवाँ उच्छ्वास दहलीज तथा छठा उच्छ्वास दफ्तर नाम से है।

पहले उच्छ्वास में देश के विभाजन की त्रासदी है। समुंदर नामक एक नवयुवक के इर्द-गिर्द कहानी चलती है जो पाकिस्तान से फर्स्ट क्लास मैट्रिक करके आया है और अपने घर-परिवार से बिछुड़ कर दिल्ली आ पहुँचा है।

दूसरे उच्छ्वास 'काठबाजार' में नायक टाइप करना सीखता है और यहीं उसकी भेंट सरिता नामक लड़की से होती है। इसी सरिता को उपन्यास की नायिका भी माना जा सकता है। इस लड़की का जिक्र उपन्यास के अन्त तक होता है। सरिता नायक को टाइप करना सिखाती है। इसी खंड में लेखक ने वेश्याओं का भी चित्रण किया है जो कि जुगुप्सा उत्पन्न करता है। नायक टाइप के साथ मिस्टर शाह के यहाँ नौकरी भी कर रहा है। मिस्टर शाह की लड़की जिल विक्षिप्त है। समुन्दर उसकी खास देखभाल करता है, वह उससे हिलमिल जाती है। उसकी नौकरी ठीक-ठाक चल रही थी तभी समुन्दर की सौतेली माँ मिस्टर शाह के यहाँ नौकरानी बनकर आती है। और नायक उससे बचने के लिए मिस्टर शाह की नौकरी छोड़ देता है। इसी खंड से यह पता चलता है कि नायक का भाई दिल्ली में ही सरकारी क्वार्टर में रहता है

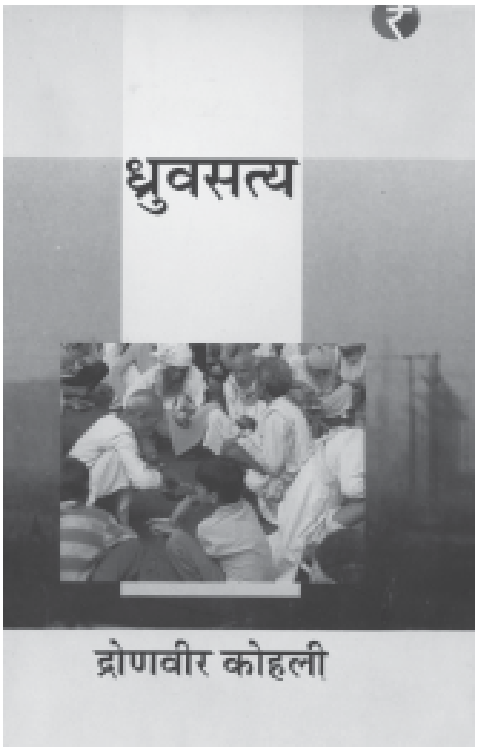

और उसने अपने भाई को साथ में नहीं रहने दिया है, यह कहकर कि सरकारी क्वार्टरों में परिवार के लोग ही रह सकते हैं, परिवार यानी पति, पत्नी और बच्चे।

तीसरा उच्छ्वास टैगोर रोड है। कनघाड़ा नायक को टैगोर रोड के अपने मित्र रोशनलाल के यहाँ कमरा दिलवा देता है। जहाँ पर संयोग से उसकी भेंट अपनी भाभी से हो जाती है।

चौथा उच्छ्वास फराशखाना है। अब नायक अपने चाचा के साथ फराशखाना में रहने लगा है। इसी खण्ड में नायक की अपने पिता से भेंट होती है। पिता पुत्र के मिलन का दृश्य बड़ा जीवंत और भावुक है। बानगी देखिए

''पहले तो मेरे मुँह से आवाज नहीं निकली न कदम हिले। चकित खड़ा देखे जा रहा हूँ। फिर 'लाला जी', चीत्कार करते हुए दौड़ा हूँ और उनकी फैली बाँहों में समा...और फफकने लगा ''लाला जी...।''

''बेटे कहाँ रह गया था?'' पिता सीने से चिपकाए, पीठ सहलाते हुए हिल-हिल कर फफक रहे थे ''कहाँ-कहाँ नहीं ढूँढा तेरे को।''

एक और बात इसी खंड में हुई है। लेखक ने इस खंड में यह रेखांकित किया है कि माँसाहार और शाकाहार का सम्बन्ध धर्म से ज्यादा मनुष्य की आर्थिक स्थिति से है। जब पैसा कम हो तो जो सस्ते में मिलता है वही खाना पड़ता है। नायक के कट्टर आर्यसमाजी पिता माँसाहारी हो गए क्योंकि पटियाला में सब्जियाँ महँगी थीं और मीट सस्ता मिलता था।

उपन्यास में कथ्य का प्रवाह है। भाषा भी सहज, सरल और पात्रों के अनुकूल है, जो कि द्रोणवीर कोहली की अपनी शैली है। 576 पृष्ठों के उपन्यास में भाषा के स्तर पर कहीं भी अटकाव नहीं है। पात्रों के माध्यम से भाषा में पंजाबियत का प्रवाह दिखाई देता है। भरोसा के लिए 'भ्रोसा', आर्यसमाजियों के लिए 'अरियास्माजियों' और जरूरत के लिए 'जरूर्त' का प्रयोग पात्रों से करवाकर द्रोणवीर कोहली हिन्दी पर पंजाबियत के प्रभाव की ओर इशारा करते हैं।

उपन्यास अपने आप में सम्पूर्ण इकाई है और उसमें जितना श्रम और समय लगा होगा वह भी इस बात को प्रमाणित करने के लिए काफी है कि इसे साहित्य में अनदेखा नहीं किया जा सकता।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि द्रोणवीर कोहली का यह उपन्यास विभाजन के बाद लिखे उपन्यासों की शृंखला में एक महत्वपूर्ण कड़ी जरूर साबित होगा। कुछ आपबीती कुछ जगबीती होने से उपन्यास की विश्वसनीयता बढ़ी है। हर खंड के पहले देशी-विदेशी विद्वानों के उद्धरण उपन्यास के कलेवर की श्रीवृद्धि करते हैं। पाठकों और समीक्षकों को ध्रुव सत्य के दूसरे खंड की प्रतीक्षा रहेगी।

ध्रुव सत्य/ द्रोणवीर कोहली/ रेमाधव पब्लिकेशंस, सी-22, तृतीय तल, आरडीसी, राजनगर, गाजियाबाद

अर्चना त्रिपाठी, 1/134, आर.के.पुरम, नई दिल्ली-22
मो. 9868007939

महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रकाशन

1. **The First Published anthology of Hindi Poets**, Imre Bangha, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225/-
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200/-
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175/-
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325/-
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी/ रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
9. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375/-
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400/-
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250/-
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125/-
15. **हिन्दी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-

सन्त्रास, संघर्ष और संकल्प की गाथा

सुशील सिद्धार्थ

धीरेन्द्र अस्थाना हमारे समय के एक समर्थ और संवेदनशील कथाकार हैं। वे अपने आख्यानों में गोचर यथार्थ के प्रश्नों से तो जूझते ही हैं, उनकी रुचि उन प्रश्नों में अधिक दिखती है जिनका सम्बन्ध आन्तरिक यथार्थ से है। 'समय एक शब्द भर नहीं', 'हलाहल' और 'गुजर क्यों नहीं जाता' जैसे महत्त्वपूर्ण उपन्यासों के बाद 'देश निकाला' धीरेन्द्र अस्थाना का नया उपन्यास है। धीरेन्द्र ने इस रचना के माध्यम से अपने रचनाकार को कई नई चुनौतियाँ दी हैं। रिश्तों के जनपद में उपस्थित विस्थापन, विडम्बना और अस्मिता संघर्ष को धीरेन्द्र ने एक मौलिक सोच के साथ व्याख्यायित किया है। गौतम सिन्हा और मल्लिका की कहानी के बहाने लेखक ने यह भी रेखांकित किया है कि हमारी प्राथमिकताएँ बताती हैं कि हम कैसे मनुष्य हैं!

गौतम और मल्लिका 'मंच पर मिले थे। मंच पर जिए थे। नेपथ्य में फिसल गए।' इन छोटे-छोटे वाक्यों से धीरेन्द्र एक बड़ा जीवन सामने रखते हैं। मल्लिका ने गौतम से पूछा था, 'तुम कैसे निर्देशक हो जो अपनी पत्नी के दुखों को शेयर करना तो दूर उनसे परिचित तक होना नहीं चाहते?' सफलता और सार्थकता के बीच सफलता के पक्ष में खड़े गौतम तक मल्लिका की आवाज पहुँचती ही नहीं। इसीलिए साथ-साथ रहने और बिछुड़ने के दौर के बाद दोनों ने जब विवाह किया तो जल्द ही मल्लिका का स्वप्न टूटा। धीरेन्द्र के शब्द हैं, 'उसे समझ आ गया। गौतम ने सिर्फ सामाजिक और कानूनी सुरक्षा का वरण किया है, जिम्मेदारियों का नहीं, वफादारी का नहीं, सामंजस्य का नहीं।' एकान्त, स्वतन्त्रता और निजता के नाम पर गौतम दरअसल व्यक्तिवादी जीवन जीना चाहता है। उपयोगिता, उपेक्षा और प्रदर्शन व्यक्तिवादी कुनबे के सदस्य हैं, जिनका हाथ पकड़कर गौतम समाज में आगे बढ़ता है। धीरेन्द्र ने 'रिश्तों की राजनीति' या 'संवेदना की सियासत' को अचूक अन्तर्दृष्टि के साथ चित्रित किया है। यह राजनीति ही तो है कि स्त्रीत्व के स्वाभाविक अधिकार मातृत्व के लिए जब मल्लिका गौतम को मना लेती है तब सहवास के बाद गौतम इसे 'जिस्म का जश्न' कहकर प्रेम को अपदस्थ करता है। यह ठीक है कि गौतम के, 'शब्दकोश में निरन्तर चलना ही अन्तिम सत्य था', लेकिन गौतम के चलने का अर्थ है व्यक्तिवाद के घेरे में घूमते रहना। धीरेन्द्र अस्थाना ने समकालीन जीवन में नई तैयारी के साथ सेंध लगाने को तैयार इस व्यक्तिवाद की 'सभ्यता समीक्षा' की है। धीरेन्द्र ने इसके लिए मुम्बई की पृष्ठभूमि ली है और बड़ी चतुराई से फिल्मी दुनिया के मायावी यथार्थ को बिम्बित किया है। गौतम इस यथार्थ से बाहर को नहीं देख पाता, जबकि मल्लिका की जीवन-दृष्टि इस यथार्थ का अतिक्रमण करना जानती है। एक भिन्न अर्थ में 'देश निकाला' पुरुष वर्चस्व और दम्भ के विरुद्ध स्त्री की नैतिकता और अस्मिता का अद्‌भुत आख्यान है। मल्लिका, सिने अभिनेत्री श्रेया और मल्लिका की बेटी चीनू को जोड़कर यह आख्यान पढ़ा जा सकता है। धीरेन्द्र की लेखकीय सतर्कता पाठक को स्तब्ध कर देती है जब वे लिखते हैं, 'यह दो स्त्रियों का ऐसा अरण्य था...।' ध्यान रहे मल्लिका और चीनू के लिए माँ-बेटी के स्थान पर 'दो स्त्रियों' लिखकर धीरेन्द्र वाक्य को नई ऊँचाइयों तक ले जाते हैं।

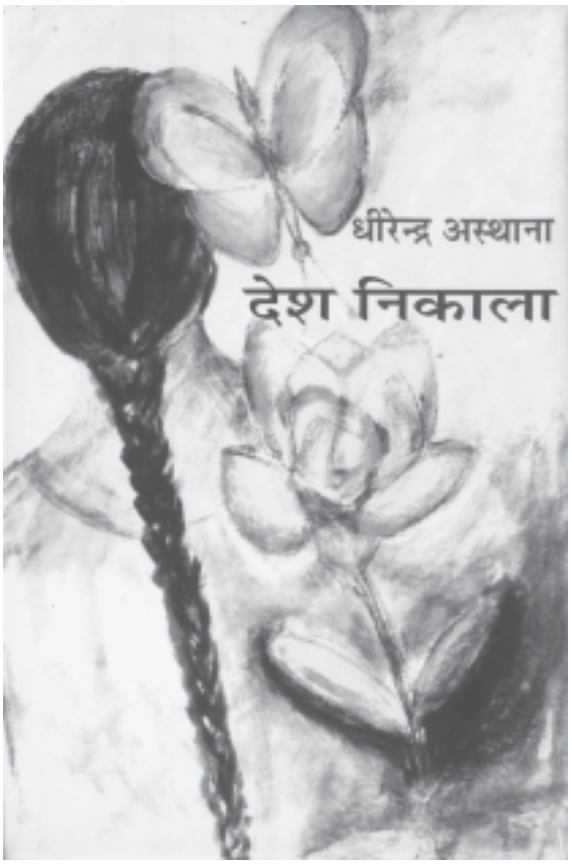

स्त्री विमर्श का एक रुख श्रेया की उपकथा में दिखता है जो गौतम की क्रूरता का शिकार होकर अन्ततः आत्महत्या कर लेती है। श्रेया के साथ मल्लिका की भावनाओं को धीरेन्द्र पूरी संवेदना के साथ सामने लाते हैं। सिने संवाद लेखक के रूप में गौतम की सफलता शायद रिश्तों की आत्महत्या पर टिकी नजर आती है। जबकि मल्लिका बार-बार याद दिलाना चाहती है कि, 'ये

दुनिया अगर मिल भी जाए तो क्या है!'

परिवेश रचने में धीरेन्द्र निपुण हैं। प्रसंगवश, मुम्बई में आई बाढ़ का दिल छू लेने वाला चित्रण उन्होंने किया है। जिन बच्चों को मल्लिका ट्यूशन पढ़ाती है, उनके परिवारों की आत्मीयता के द्वारा लेखक ने नई सामाजिकता के सन्दर्भ दिए हैं। बादशाह खान के साथ की गई फिल्म और मदर इंडिया के रीमेक में केन्द्रीय भूमिका करने के बाद भी मल्लिका इन बच्चों को नहीं भूलती। अनेक कारणों से अपनी उम्र से ज्यादा जानने की जिद में लगे बच्चों का संकेत भी धीरेन्द्र करते हैं। सेक्स और बच्चों की जानकारियों का एक छोटा-सा संकेत काफी अर्थपूर्ण है। मुम्बई जैसे महानगर से कुछ कथा-सन्दर्भ लेकर धीरेन्द्र ने बहुव्यंजकता के साथ उन्हें प्रस्तुत किया है। स्वयं मुम्बई भी एक चरित्र की तरह 'देश निकाला' में उपस्थित है। चरित्र चित्रण में धीरेन्द्र धैर्य से काम लेते हैं। सफेद और काले के बीच किसी निस्संग दिखती जगह पर उनके पात्र हमें मिलते हैं। भाषा तो उनका सबसे भरोसेमन्द रचनात्मक साथी है। रिश्तों के विस्थापन को बयान करना कठिन होता यदि उनके साथ बहुस्तरीय भाषा न होती। शायद यह भाषा की संवेदनशीलता ही है कि गौतम के साथ भी पाठक की थोड़ी बहुत सहानुभूति बनी ही रहती है। वर्णन, विवरण और विमर्श को धीरेन्द्र अस्थाना ने बेहद सलीके से साधा है। भाषा के सधाव के अनेक स्थल उपन्यास में हैं, एक उदाहरण 'मल्लिका को याद नहीं आता कि कितने लम्बे समय के बाद वह इस तरह बैठी थी खाली, अकेली और निरर्थक। ...एक ऐसे अरण्य में, जो सुकून देता था। यह उसका अपना बनाया नेपथ्य था, जिसमें निःशब्द बीतती हुई भी वह जख्मों और खरोचों से परे थी।' यह उपन्यास एक परिपक्व उपन्यासकार की रचनात्मक कोमलता का भी प्रमाण है। भावनाओं के कई चेहरे उन्होंने पहचाने हैं। एक चेहरा वह है जब मल्लिका किसी भी तरह गौतम के जीवन में रहना चाहती है। अन्त तक आते-आते गौतम और मल्लिका की बेटी चीनू जानना चाहती है कि, 'पापा हमारे साथ क्यों नहीं रहते।' उपन्यासकार की टिप्पणी से एक बड़ा सवाल रेखांकित होता है, 'स्तब्ध मल्लिका क्या जवाब दे? कैसे बताए कि गौतम की दुनिया से उन दोनों को देश निकाला मिला है। कैसे समझाए इत्ती-सी चीनू को कि औरत अगर अपने मन मुताबिक जीना चाहे तो उसे देश निकाला ही मिलता है। मिलता रहा है।'

दूसरा चेहरा यह है कि बेटी चीनू के आँसू पोंछकर और अपनी सिसकियाँ समाप्त कर मल्लिका एक नए संकल्प को धारण करती है। पृथ्वी की तरह। उपन्यास की अन्तिम पंक्तियों तक पहुँचता पाठक सोचता है, 'ये क्या जगह है दोस्तो!' मल्लिका (या एक नई स्त्री) का प्रस्थान यहीं से प्रारम्भ होता है।

देश निकाला/ धीरेन्द्र अस्थाना/ भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/ मूल्य : 120/-

---

बी-2/8बी, केशवपुरम, लारेंस रोड, नई दिल्ली-110035 मो. 9868076182

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

हिन्दी साहित्य का मौखिक इतिहास

(स्मृति-संवाद)

शोध एवं संपादन

नीलाभ

मूल्य

250/- (प्रति खंड)

1000/- (चारों खंड)

एकमात्र वितरक

शिल्पायन

10295, वैस्ट गोरख पार्क,

शाहदरा, दिल्ली-110032

उत्तर भूमंडलीकरण और कथा में प्रयोगशीलता

राजकुमार सैनी

युवा कहानीकार पंकज सुबीर की कहानियों में अभिनव प्रयोगशीलता है, व्यक्ति-विचित्रता है और आधुनिकता है। उनकी दल-निरपेक्ष, जाति-निरपेक्ष, धर्म-निरपेक्ष दृष्टि उन्हें एक सेक्यूलर रचनाकार के रूप में प्रस्तुत करती है। कहानी की भाषा, शैली, तकनीक और शिल्प के स्तर पर वे तरह-तरह के प्रयोग करते हैं। इस अभ्युक्ति से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि अधिकांश कहानियाँ अनुभव और परख के धरातल से उपजी हैं और इन्हें पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि हमारे आसपास घटने वाली गौण घटनाएँ प्रायः कितनी महत्त्वपूर्ण होती हैं। पंकज सुबीर ने इस संकलन में कहानी-कला को लेकर पृथक-पृथक प्रयोग किए हैं। तथापि ये कहानियाँ व्यक्तिगत यथार्थ की कहानियाँ होकर रह गई हैं; सामाजिक यथार्थ की रचनाएँ नहीं हो पाईं।

'कुफ्र' कहानी में मुसलमान होने के कारण परिवार को कोई काम, कोई रोजगार नहीं मिलता तो परिवार अपने बच्चों को 'जय शनि महाराज' के नाम पर भिक्षाटन के लिए भेजने पर विवश होता है। यह यथार्थ चाहे कितना भी सच्चा हो लेकिन आसानी से गले नहीं उतरता। चाहे देश में हिन्दुत्व का कितना भी डंका बजाया जा रहा हो; यह कहानी विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती।

'अन्धेरे का गणित' कहानी अस्पष्ट और असम्प्रेष्य हो गई है। कहानी का सिर-पैर ढूँढ़े नहीं मिलता। कहानी अबूझ पहेली बनकर रह जाती है।

'घेराव' में साम्प्रदायिक दंगे में मीडिया की भूमिका पर रिपोर्टिंग करने में समीर के नौकरी से हटने की नौबत आ जाती है। आधुनिक मीडिया और उसकी रिपोर्टिंग पर कहानी एक सटीक व्यंग्य है। यह एक अच्छी कहानी है। कहानीकार ने मीडिया-कर्म का खुलासा पेश करते हुए उसे एक्सपोज करने में सफलता हासिल की है।

'आंसरिंग मशीन' कहानी आज के नापाक प्रशासकीय-साहित्यिक गठबन्धनों और गठजोड़ों को दिगम्बर कर देती है। ऐसा करने में कहानीकार ने भाषा, शैली, कथन और कथ्य विविध स्तरों पर एक चुस्त और कुशल कहानीकार का परिचय दिया है। कहानी में युवा प्रतिभाओं के शोषण और दोहन (फिर उन्हीं प्रतिभाओं के) उसी दुश्चक्र का हिस्सा बन जाने की प्रक्रिया का सटीक और व्यंग्यपूर्ण चित्रण है। यह कहानी एक सफल कलात्मक प्रयोग का उदाहरण है।

'ईस्ट इंडिया कम्पनी' कहानी संकलन का शीर्षक है। पुस्तक के फ्लैप पर जो आवरण चित्र है, वह भी शीर्षक पर ही आधारित है। इस कहानी के बारे में पुस्तक के फ्लैप पर दिए गए परिचयात्मक विवरण में कहा गया है 'उँगली पकड़ने का अवसर मिलते ही लोग कैसे पहुँचा पकड़ने की कोशिश में जुट जाते हैं। ऐसी मानसिकता कैसे आज पूरे देश में फैलती जा रही है, इसे पंकज ने अपने इस संग्रह की शीर्षक कहानी 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के द्वारा बड़ी आसानी से चित्रित कर दिया है।' पुस्तक के फ्लैप पर दिए गए विवरण में की गई इस टिप्पणी से मैं सहमत नहीं हूँ। रेल में एक मुसाफिर दम्पत्ति द्वारा सीट हथियाने की घटना को लेकर 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' शीर्षक देना तिल को ताड़ कहने जैसा है। फिर कहानी संकलन का भी वही शीर्षक देना, पुनः फ्लैप पर उसी शीर्षक के आधार पर आवरण चित्र छापना, जबकि कहानी के कंटेंट (Content) का आवरण चित्र के कंटेंट से कोई साम्य न हो इस सारी पेशकश में अतिव्याप्ति दोष नजर आता है। कहना ही होगा कि पुस्तक के आवरण पर जो चित्रांकन है वह इतना 'भव्य' और 'प्रभावशाली' है कि उसके सामने यह कहानी ओछी पड़ जाती है।

'हीरामन' मानवीय संवेदना और परिस्थितियों के द्वन्द्व को उभार कर पेश करने वाली एक मार्मिक कहानी है। संकलन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहानी

भी यही है।

फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि पंकज सुबीर एक प्रयोगशील कहानीकार हैं और कहानी विधा के बहुविध विकास के लिए प्रयासरत हैं। कहानी की भाषा, शैली और शिल्प को वे बदल रहे हैं। 'एक सीप में तीन लड़कियाँ रहती थीं हरी, नीली और पीली' शीर्षक कहानी की यह विशेषता है कि यह रचना निम्नमध्य वर्ग की युवतियों के सपनों के चकनाचूर होने की प्रक्रिया को प्रतीक-कथा के माध्यम से रेखांकित कर देती है। 'ये कहानी नहीं है' शीर्षक रचना वस्तुतः कहानी नहीं है अपितु आज के साहित्यिक माहौल को नमूदार करने वाली नंगी असलियत है। कहानी का महापुरुष साहित्यिक जगत का ऐसा मठाधीश है जो महानगर, नगर, उपनगर तथा कस्बे में सर्वत्र समासीन है और नई प्रतिभाओं को उभरने से पहले ही चाट जाता है।

पंकज सुबीर ने इस संग्रह में कहानी-कला को लेकर पृथक-पृथक प्रयोग किए हैं। उनकी प्रत्येक कहानी में अभिनव प्रयोगात्मकता झलकती है। भाषा, शिल्प, संवाद, विवरण, शैली और कथन में नई-नई भंगिमाओं से पाठक का सामना होता है। किन्तु कथ्य के धरातल पर अधिकांश कहानियों में व्यक्तिगत यथार्थ ही अभिव्यक्त होता है, सामाजिक सन्दर्भ व्यंजित नहीं होते। कहने को कहा जा सकता है कि व्यक्ति समाज का ही हिस्सा है; या कि यह कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं और इसलिए व्यक्ति का यथार्थ भी सामाजिक यथार्थ समझा जाना चाहिए, तथापि सुस्पष्ट और धारदार शैली में सामाजिक यथार्थ की कहानी लिखना आधुनिक कहानीकार के लिए एक चुनौती है तथा यह उम्मीद की जा सकती है कि पंकज सुबीर अपने दूसरे संग्रह की कहानियाँ लिखते समय उक्त चुनौती को भी स्वीकार करेंगे।

अधिकांश कहानियाँ पठनीय और रोचक हैं। लेकिन 'अंधेरे का गणित' और 'तस्वीर में अवांछित' जैसी कहानियाँ सुस्पष्ट और पठनीय नहीं हैं। पुस्तक के फ्लैप पर कहा गया है कि अपनी कहानियों में पंकज सुबीर कहीं भी चूकते नजर नहीं आते और उनकी हर कहानी अपने आप में ताजगी लिए है। पाठक स्वयं पढ़कर इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि सभी कहानियाँ ऐसी नहीं हैं और कहानीकार कहीं-कहीं चूकता भी नजर आता है।

ईस्ट इंडिया कम्पनी/ पंकज सुबीर/ भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/ मूल्य :

122, दिन अपार्टमेंट्स, सेक्टर-4, प्लॉट नं.-7, द्वारका, नई दिल्ली-110075 मो. : 9810709883

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

छवि - संग्रह

यों तो किसी भी लेखक की सबसे जीवंत उपस्थिति उसकी रचना में होती है पर जैसे हम एक रचना पढ़कर दूसरी रचना खोजते या एक पुस्तक से गुज़रकर दूसरी के लिए उत्सुक-अधीर होते हैं वैसे ही हमें इच्छा होती है यह जानने की कि वह लेखक कैसा दीखता है, उसका पास-पड़ोस कैसा है, वह किनकी सोहबत में रहता आया है, आदि। छवि-संग्रह के माध्यम से हमारा यत्न समकालीन मूर्धन्य लेखकों पर ऐसी सामग्री एकत्र और विन्यस्त करना है जो एकबारगी हमें लेखक के समूचे कृतित्व, उस पर विभिन्न अभिमतों, उसके लिखे में से चुने हुए अंशों, उसके अनुवादों, मित्रों, यात्राओं, पड़ोस आदि से अवगत करा दे। यह लेखक को उसकी कृतियों, उसके परिवेश और उसके ठोस संदर्भ में जीवित उपस्थिति के रूप में साक्षात् करने की कोशिश है। यह एक सीरीज है जिसमें, हमें उम्मीद है, हम अनेक मूर्धन्य लेखकों को एक-एक कर उपस्थित कर सकेंगे।

अभी तक प्रकाशित छवि-संग्रह :

निर्मल वर्मा, कुँवर नारायण, कृष्णा सोबती, विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, नेमिचंद्र जैन, मनोहर श्याम जोशी और नामवर सिंह

कहानी

स्त्री विमर्श का दूसरा दौर

हितेश कुमार सिंह

'दूसरे दौर में' कथा लेखिका दीपक शर्मा का उन्नीस कहानियों का संग्रह है। पहली कहानी 'पंख फैलाए उकाब' से प्रारम्भ होकर 'दूसरे दौर में' अन्तिम कहानी पर समाप्त होती है।

इस संग्रह की लगभग हर कहानी का केन्द्रबिन्दु स्त्री है। हर वय की स्त्री। अपनी परिस्थितियों से रूबरू होती स्त्री।

दीपक शर्मा समकालीन बोध की कथा लेखिका हैं और अपने समय के यथार्थ और विडम्बनाओं को वे अनुभूत सत्य के रूप में व्यक्त करती हैं। आज के कुछ कहानीकारों की तरह उनमें शिल्प के आडम्बरों से चमत्कृत करने की प्रवृत्ति नहीं है पर आवश्यकतानुसार वे फंतासी का प्रयोग करने से भी नहीं हिचकतीं।

इस मूल्यहीन युग में मानव-मूल्यों की बात करना दीपक शर्मा की कहानियों की विशेषता है। इस संकलन की प्रथम कहानी 'पंख फैलाए उकाब' में लेखिका ने हरेन्द्रनाथ के द्वारा जिन मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास किया है, वह प्रशंसनीय है। हरेन्द्रनाथ सगी लड़की न होने के बावजूद जिस प्रकार जीवणी का बोझ उठाता है और मदर सुपीरियर का आउट ऑफ टर्न प्रमोशन सहर्ष अस्वीकार करता है वह आज के मनुष्य को सटीक सीख देता है क्योंकि आज लोग अपनी सगी लड़की को ही बोझ समझने लगे हैं। तभी तो मदर सुपीरियर हरेन्द्रनाथ को कह उठती है ''आप ईश्वर के चुनिन्दा लोगों में है।''

दूसरी कहानी 'मुलायम चारा' में स्त्री को जिस प्रकार चारे के रूप में प्रस्तुत किया गया है, वह आज के युग की सच्चाई है क्योंकि नारी स्वतन्त्रता, नारी मुक्ति और स्त्री विमर्श के नाम पर बुद्धिजीवी कितने ही लुभावने नारे या गम्भीर वक्तव्य दें किन्तु सत्य यही है कि नारी को चारा (भोग्या) ही समझा जाता है।

'बटेर' कहानी में लेखिका ने स्त्री को एक सीधे-सरल पक्षी बटेर के रूप में प्रस्तुत किया है। अपनी बड़ी बेटी की अनुमति बिना उसकी शादी एक सेल्समैन किशोरीलाल से तय करने की बात चलाना और सेल्समैन का कोई लक्ष्य न होने के कारण बड़ी बेटी द्वारा मना करना यह दर्शाता है कि स्त्री अब बटेर होकर नहीं जीना चाहती, वह अपने जीवन के फैसले स्वयं करना चाहती है।

इस लेखिका की कहानियों को पढ़ना विविध अनुभवों से गुजरने जैसा है। जहाँ संग्रह की अधिकतर कहानियाँ आधुनिक हैं वहीं 'राई का मरहम' में पिछड़ापन दिखाई देता है। अरुणा व टीपू के भौतिक रूप से कलकत्ता से कस्बापुर न आने पर भी माता-पिता द्वारा साक्षात् देखा जाना जहाँ एक ओर माता-पिता के प्रेम को दर्शाता है वहीं दूसरी ओर चमत्कारी शक्तियों को भी सुशोभित करता है।

दीपक शर्मा की कहानियाँ जीवन के सत्य को उजागर करती हैं। 'बट्टे खाते' में इस सत्य को देखा जा सकता है। जैवंती अपनी भतीजी (बहन की लड़की) शशि को अपने घर लाती है जिसका उसके पति (बाऊ) से अवैध सम्बन्ध हो जाता है और शशि से यशवीर पैदा होता है जो अपनी वास्तविक माँ से अनभिज्ञ है। यह कहानी स्त्री के वर्तमान नारकीय हालात को अच्छी तरह बयां करती है।

इस संग्रह की प्रायः सभी कहानियाँ नगरों-महानगरों में रहने और जीने वालों के सुख-दुःख की ऐसी कहानियाँ हैं जो किसी विमर्श या आन्दोलन के पचड़े से दूर अत्यन्त सहज हैं। 'पिछाड़ी' कहानी का पात्र बिना किसी आन्दोलन के लड़की-लड़के के भेद को नहीं मानता तभी तो लड़के की माँ द्वारा लड़की को पराया धन कहे जाने का प्रतिभा के पिता द्वारा विरोध किया जाता है। प्रतिभा के पिता स्त्री को वस्तु (कमोडिटी) मानने

के लिए कतई तैयार नहीं हैं। यह स्त्री का सशक्तीकरण ही तो है।

संग्रह की शीर्षक कहानी 'दूसरे दौर में' एक सशक्त कहानी है। कान्ति का अपने भाई सुभाष एवं मुकुंद के लिए गाजर का हलवा बनाने के कारण पति के हाथों पिटना और घर में छोटी-छोटी बातों के लिए ताने सुनना उसको अपने पैर पर खड़ा होने के लिए प्रेरित कर देता है। कान्ति अब यह समझ चुकी है कि आर्थिक सशक्तीकरण द्वारा ही स्वाभिमानपूर्वक जीवन जिया जा सकता है।

दीपक शर्मा की कहानियों को पढ़ते हुए लगता है कि यह अपने आस-पास की घटित घटनाओं को केन्द्र में रखकर लिखी गई हैं।

इस संग्रह की 'घातिनी', 'दोहरा लेखा' एवं 'गिलहरी' कहानियाँ इसी श्रेणी में आती हैं। कुछ कहानियाँ आधुनिकता को संकेतित करती हैं और समकालीन संवेदनाओं को उभारती हैं जैसे 'रक्त कौतुक', 'नकली नारंगी' एवं 'खुलासा हाल'। 'अनबुझा चूना', 'चित्र विचित्र' जैसी कहानियाँ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के कुछ अथाह रहस्यों की थाह लेती दिखाई देती हैं।

इस संग्रह की लगभग सभी कहानियों की पात्र स्त्रियाँ हैं जो कि स्त्री विमर्श में एक नया आयाम जोड़ती हैं और लेखिका के ये पात्र स्त्रियों के साहस और संघर्ष की महत्वपूर्ण दास्तां भी बयान करते हैं।

अपने इस कथा संग्रह में लेखिका ने कथ्य एवं शिल्प के पुराने प्रतिमानों को यथासम्भव तोड़ने का प्रयास किया है जो स्त्री विमर्श एवं स्त्री सशक्तीकरण को और अधिक सुदृढ़ ही करेगा।

दूसरे दौर में/ दीपक शर्मा/ अनामिका प्रकाशन, 52, तुलाराम बाग, इलाहाबाद/ मूल्य : 150 रु.

हितेश कुमार सिंह द्वारा डॉ. घनश्याम सिंह, 1144, भरद्वाज पुरम (नजदीक ई.डब्ल्यू.एस.) अल्लापुर, इलाहाबाद; मो. 09452790210

महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की संचयिता शृंखला

सं. रामचंद्र तिवारी

सं. डॉ. रमेशचंद्र शाह

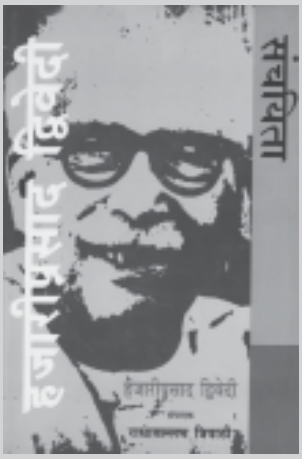

सं. राधावल्लभ त्रिपाठी

सं. नंदकिशोर नवल

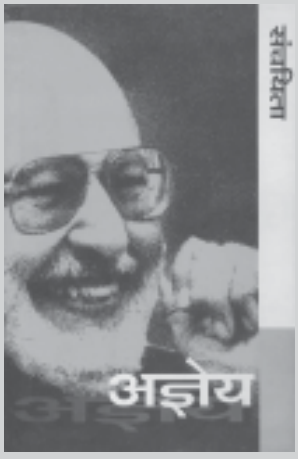

सं. नंदकिशोर आचार्य

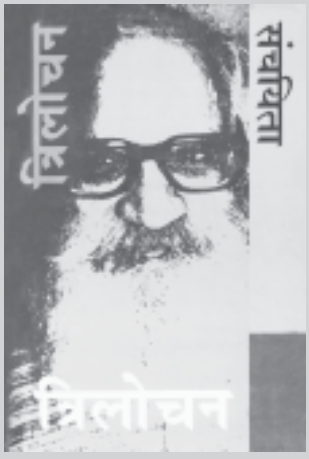

सं. ध्रुव शुक्ल

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय

कहानी के बदलते तेवर

अशोक मिश्र

इस उत्तर आधुनिक और अगम्भीर समय में जहाँ हमारे चारों ओर संचार क्रान्ति का शोर है, शॉपिंग मॉल्स की चमक है, टीवी चैनलों पर फैशन शो, टॉक शो, आइटम डांस, नच बलिए, अपराध कथाएँ, भूत-प्रेत कथाएँ, ज्योतिषी, बाबा हैं, वहीं अखबारों के पेज राजनीतिक बयानबाजियों, पेज थ्री पार्टियों, फैशन शो की खबरों से अटे पड़े हैं। ऐसे वातावरण में साहित्य की चर्चा बिल्कुल हाशिए पर चली गई है। साहित्य में इन दिनों सतही चर्चाओं, उखाड़-पछाड़, विमर्शों, गुटबाजी और चरण वन्दना का दौर चल रहा है। जाहिर है कि ऐसा समय पहले कभी नहीं था। इसके बावजूद समय का पहिया अपनी गति से चल रहा है और इक्कीसवीं सदी का पहला दशक शुरू हो चुका है। इस बीच कहीं आग और धुआँ भले न हो मगर हिन्दी कहानी के आँगन में एक नई पीढ़ी दस्तक दे चुकी है।

कहानी का जब कभी प्रादुर्भाव हुआ होगा, अपनी-अपनी बोलियों (भाषा) में मनुष्य ने किस्से कहानी गढ़े होंगे और वे बोली और सुनी जाती रही होंगी। जैसे-जैसे मनुष्य की सभ्यता का विकास हुआ, किस्से कहानी में नई कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, यथार्थवादी कहानी, समकालीन कहानी आदि-आदि के प्रयोग हुए पर वही कहानी सर्वग्राह्य हुई जिसमें सशक्त कथ्य, समुचित गति व प्रवाह, पर्याप्त उत्सुकता अन्त तक बरकरार रही हो। उसमें किस्सागोई के समस्त तत्व विद्यमान रहे हों और जिसकी जड़ें जमीन से जुड़ी रही हों। इस तरह की किसी भी काल में लिखी गई कहानियाँ आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं।

पहले की तुलना में आज के परिवेश में परम्परागत मूल्यों में तेजी से बदलाव आ रहे हैं। नैतिकता के मानदण्ड बदल रहे हैं। जीवन शैली में आमूलचूल परिवर्तन हो रहा है। टेलीविजन की अनगिनत चैनलों पर दिखाए जा रहे अधिकांश ऊल-जुलूल कार्यक्रमों, विज्ञापनों, इंटरनेट के दूषित कार्यक्रमों से आज युवा पीढ़ी और किशोर भ्रमित हो रहे हैं। हालात यहाँ तक बदल चुके हैं कि हमारा प्रिंट मीडिया भी इसी राह पर चल पड़ा है। आजकल अन्याय और शोषण के अलावा छलनी होती मर्यादाएँ, टूटती वर्जनाएँ, आपसी सम्बन्धों में मधुरता और सहजता की जगह मार्केटिंग, राजनीतिक दबाव, आदत में शुमार होता भ्रष्टाचार, संयुक्त परिवार का विघटन, एकल परिवार की त्रासदियाँ, बुजुर्गों के प्रति हेय दृष्टि और उपेक्षित व्यवहार, रिश्तों की बदलती परिभाषा, विवाह के प्रति बदलता नजरिया, लिव इन रिलेशनशिप, हुक अप संस्कृति, विवाह पूर्व और विवाहेतर यौन सम्बन्ध, यौन सम्बन्धों में उदारता, बदलती जीवनशैली, गाँवों से होता मोहभंग, गाँवों में पैर पसारती महानगरीय अधकचरी सभ्यता और कृत्रिम जीवन पर काफी कहानियाँ आ रही हैं जो अच्छा संकेत हैं। ये निश्चय ही समाज को स्वस्थ दिशा देने में सहायक हो सकेंगी, यह मानना शायद अधिक आशावादी हो, पर कहीं एक भी मनुष्य इससे प्रभावित होता है तो इसकी सार्थकता तो है ही। शिवदयाल एक अरसे से कहानियाँ लिखने वाले कथाकार हैं। 'मुन्ना बैण्डवाला उस्ताद' उनका सद्य प्रकाशित कहानी संग्रह है। 'मुन्ना बैण्डवाले उस्ताद' कहानी में विडम्बना एक नए यथार्थ के साथ खुलती है। कहानी कुछ इस तरह है कि उस्ताद किसी शादी में बैण्ड बजा रहे होते हैं कि अचानक एक पूर्व परिचित पूरे सम्मान के साथ उनका हालचाल पूछता है और वे बचपन से लेकर अब तक की अपने परिवार की पूरी कहानी बयान कर देते हैं कि किस तरह अब्बा की मौत के बाद भाइयों और बहनों के पढ़ाते-लिखाते वे बुढ़ा जाते हैं। कैसी विडम्बना है कि जो बैण्डवाला उस्ताद जवानी से बुढ़ापे तक हजारों शादियों में बैण्ड बजाता है मगर न उसकी शादी होती है न ही बैण्ड बजता है। यह कहानी देखने में अत्यन्त साधारण-सी दिखती है, मगर कथाकार ने एक मामूली से पात्र की जीवन कथा को बेहद मार्मिकता और संवेदनशीलता के साथ बयां किया है जो देखते ही बनता है। 'एक सलोनी-सी लड़की' संग्रह की सबसे लम्बी और बेहतरीन कहानी है। यह कहानी प्रेम के एकतरफा पक्ष को अलग ढंग से रखती है। संग्रह की अन्य कहानियाँ खबर, खटराग, एक सफर का साथ, चन्दन खुशबू की दुकान आदि दैनंदिन जीवन की अपूर्व गाथाएँ हैं जो बिना किसी बनावटीपन के हमारे सामने आ खड़ी होती हैं। शिवदयाल सहज शिल्प में कहानी लिखने वाले कथाकार हैं। वे जस की तस धर दीनी चदरिया वाले अन्दाज में किस्सागोई के साथ कहानी बुनते हैं। और यहीं वे अन्य कथाकारों से सर्वथा भिन्न हो जाते हैं।

'खूँटा' जैसी चर्चित कहानी लिखकर एक नई कथा भाषा के साथ साहित्य के मैदान में प्रवेश करने वाले अनुज अब स्थापित कथा हस्ताक्षर बन चुके हैं। अनुज का पहला कहानी संग्रह 'कैरियर, गर्लफ्रेंड और विद्रोह' शीर्षक से प्रकाशित होकर सामने आया है। संग्रह में कुल मिलाकर दस कहानियाँ संकलित हैं। संग्रह की पहली कहानी 'कैरियर, गर्लफ्रेंड और विद्रोह' जेएनयू के भीतर छात्र गतिविधि पर केन्द्रित है। जाहिर है कि इन विश्वविद्यालयों

में कुछ छात्र तो मात्र कैरियर और गर्लफ्रेंड में उलझकर रह जाते हैं। वैसे सही शब्द करियर है। विश्वविद्यालय में छोटे गाँवों से कुछ ऐसे छात्र भी पढ़ने आते हैं जो विद्रोही की तरह अपने लक्ष्य पर पहुँचने से पहले भटक जाते हैं या भटकाव का शिकार होकर रह जाते हैं। कहानी में लेखक आख्यान की तरह कहानी प्रस्तुत करता है। संग्रह की सबसे सशक्त कहानी 'खूँटा' है। ग्रामीण जीवन में खूँटा विशेष मायने रखता है। इसी खूँटे पर गाय भैंस बैल बाँधे जाते हैं। खूँटा को प्रतीक बनाकर लिखी गई इस कहानी के माध्यम से बैलों की खरीद-फरोख्त का जो चित्रण यहाँ है वह कहानी को विशेष दर्जा दे जाता है। संग्रह में प्रकाशित कुंडली, माइक्रोवेव टावर, बनकटा, भाईजी, अनवार भाई नहीं रहे, खड़ेसरी बाबा आदि सभी कहानियाँ अनुज के कथाकार की सामर्थ्य का परिचय देने के लिए काफी हैं। अनुज की कहानियों में जहाँ चापाकल, इनार, इखोर-बखोर, चापड़, घोंघियाते, बज्जर, खुड़पेड़िया जैसे गाँव-कथा-प्रचलित शब्द खूब आते हैं। वहीं दूसरी ओर जेएनयू को प्रवेश बनाकर लिखी गई कहानियों में अंग्रेजी शब्दों की भरमार है मसलन-डेमोक्रेटिक डिस्पाट, एस्केपिस्ट, मिडिल स्कूल, नास्टैल्जिक, फ्री थिंकर्स, अपॉलिटिकल, मार्केट वैल्यू लाइवलिटी, लुम्पेन, कस्टॉडियन, सेक्स-कुंठित, लिप मूवमेंट, रिएक्ट, अनाउंसमेंड, सिक्योरिटी असिस्टेंट,

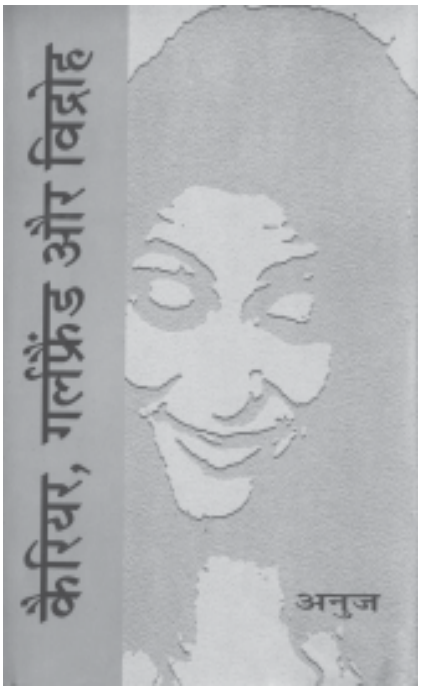

एपिसोड, अर्जेन्सी, लोकेशन आदि। वैसे देखा जाए तो ये शब्द कहानी को स्वाभाविकता प्रदान करते हैं। इनका अधिक प्रयोग ठीक नहीं लगता मगर फिर भी यह कहा जा सकता है कि 21वीं सदी में यह हमारे युवा कहानीकारों की नई कथा भाषा है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि हाल ही में चर्चा में आए कथाकारों में अनुज उल्लेखनीय कहानीकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे कहानी को कहानी की ही तरह रचते हैं और उसमें ट्रीटमेंट के स्तर पर कई प्रयोग करते हैं। उन्होंने सार्थक कहानियों के माध्यम से हमें झकझोरा और सोचने को बाध्य किया। अनुज न आग्रही हैं और न दुराग्रही ही हैं। वे अतिवादी भी नहीं है। उन्होंने स्थितियों का उपयोग नहीं किया है वरन् स्थितियों को अपनी संवेदना का स्पर्श देकर यथातथ्य रख दिया है। इतनी सी बात है कि वे अपनी रचनाओं में हर जगह उपस्थित रहते हैं सरोकार के साथ। लेखक ने समस्याएँ उठाई हैं लेकिन उसके पास हल नहीं है। हल किसी के पास नहीं है। वे न वादी हैं और न प्रतिवादी। इन कथाओं से संवेदित होने वालों को अपनी राह, अपनी दिशा खुद ही खोजनी होगी।

रणविजय सिंह सत्यकेतु की कहानियाँ 'दावत', 'फाँक', 'तृप्ति', 'कर्फ्यू' आदि वर्तमान संसार की तल्ख सच्चाई का साक्षात्कार कराती हैं। 'कर्फ्यू' साम्प्रदायिक उन्माद की राजनीति और इस राजनीति का मनुष्य के समूचे अस्तित्व पर पड़ने वाले प्रभाव का अनोखा चित्रण करती है। यह स्पष्ट करती है कि कर्फ्यू सत्ता के दमन तन्त्र का एक कारगर हथियार है। कर्फ्यू हमारे आवागमन पर ही रोक नहीं लगाता, वह संकट के समय मानवता की राह पर मनुष्य की उपस्थिति का भी निषेध करता है। कहानी की कथा का वाहक एक पत्र है। पत्र पर 11.11.89 की तारीख है। यह समाज का वह दौर था, जब कट्टरता हिन्दू और मुसलमान दोनों ही तबकों में नए सिरे से सिर उठाते हुए हमारी राजनीति में प्रवेश कर रही थी। इसी दौर में कट्टरता हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही समुदायों में सिर उठा रही थी। इसी दौर में रामलला की रथयात्रा निकालकर बाबरी मस्जिद के विध्वंस की पृष्ठभूमि तैयार की जा रही थी। आदमी और आदमी के बीच धर्म की पुख्ता दीवारें नए सिरे से सिर उठा चुकी थीं। हिन्दुओं

की छतों पर भगवा ध्वज और उनके घरों से निकलने वाले घण्टा-घड़ियाल के समवेत स्वरों पर सवार जहरीली रामलहर के प्रसार का गवाह बना था यह दौर। इसने धर्मनिरपेक्षता के सरकारी दिखावेबाजी को धूल-धूसरित होते देखा था। कहानी यह बात मजबूती से स्थापित करती है कि कर्फ्यू केवल भौतिक परिघटना नहीं है। वह एक सांस्कृतिक परिघटना भी है। फासीवाद हमारे मानस पर एक किस्म का सांस्कृतिक कर्फ्यू आरोपित करता है और हम सबको अपने-अपने संकीर्ण दायरों में कैद होकर रह जाने को विवश करता है। पत्र में आगे जिन घटनाओं का वर्णन किया गया है वह दर्शाती है कि सांस्कृतिक परिघटना के रूप में कर्फ्यू हर जगह हावी है। विवेक सुरक्षित घर पहुँच जाता है और पत्र में लिखता है 'अब मैं घर पर हूँ और सुरक्षित हूँ।' कहानी का ऐसा अन्त यह ध्वनित करता है कि कर्फ्यू कामयाब है। उन्नीस सौ नवासी की रथयात्रा के बाद हमारे लोकतन्त्र ने अयोध्या से गोधरा तक का सफर तय किया है और हम लगातार बैठे हैं घर में, सुरक्षित, क्योंकि बाहर कर्फ्यू लगा हुआ है। मूल्यों के गहराते संकट के दौर में मनुष्य और उसकी संस्कृति के जीवंत स्रोतों के बीच पहरेदारों की लम्बी फौज खड़ी कर दी गई है सुरक्षा के नाम पर। सत्यकेतु की कहानियाँ उनके कहानीकार के

सामर्थ्य का परिचय देते हुए बेहद सहजता के साथ हमारे समाज में और भीतर व्याप्त जड़ता और घर कर चुकी संवेदनहीनता का बयान करती हैं। वे एक संभावनाशील कथाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं।

कहानी के वर्तमान परिदृश्य में नवीन कुमार नैथानी की उपस्थिति उल्लेखनीय कही जा सकती है। वे उत्तराखण्ड के जनजीवन को कहानियों में इस तरह उकेरते हैं कि वह देखते ही बनता है। हाल में प्रकाशित 'सौरी की कहानियाँ' उनका नया कहानी संग्रह है जिसमें कुल जमा तेरह कहानियाँ हैं। नैथानी की कहानियों में पहाड़ी जीवन का लोक यथार्थ और उनका दर्द बड़ी ही विश्वसनीयता के साथ खुलता है। 'पारस' कहानी के लिए उन्हें वर्ष 2006 में रमाकान्त स्मृति कहानी सम्मान से सम्मानित किया जा चुका है। नैथानी की कहानियों में स्थानीयता के प्रति एक विशेष किस्म का आग्रह दिखाई देता है जो कि हवा हवाई हो रहे सेक्सीय कथा साहित्य के बीच दुर्लभ है। नैथानी की पारस, चोर-घटड़ा, अखण्ड सुहागवती, आँधी, गरमाहट, तस्वीरें, शुतुरमुर्ग समेत सभी कहानियों में वहाँ के लोक जीवन में व्याप्त आख्यानों, उपाख्यानों, किंवदंतियों को कथा का रूप दिया गया है।

हाल ही में ज्ञानपीठ से ही प्रकाशित कुछ अन्य संग्रहों की बात करें तो 'जानकी पुल' प्रतिभाशाली युवा कथाकार प्रभात रंजन

का पहला कहानी संग्रह है। उनकी कहानी 'जानकीपुल' इससे पहले सहारा समय की कथा प्रतियोगिता में पुरस्कृत हुई थी, तभी उन्होंने आलोचकों का ध्यान खींचा था। प्रभात रंजन की कहानियाँ अलग-अलग चरित्रों की कहानियाँ हैं और ट्रीटमेंट के स्तर पर काफी प्रभावित करती हैं। प्रभात रंजन एक सशक्त कहानीकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। 'फूलों का बाड़ा' युवा कथाकार मो. आरिफ की कहानियों का दूसरा संग्रह है। इससे पहले उनका उपन्यास 'उपयात्रा' खासा चर्चित रहा है। संग्रह की शीर्षक कहानी 'फूलों का बाड़ा' कहानी कम उपन्यास के करीब अधिक लगती है। मो. आरिफ कहानी में अफसाना लिख देते हैं। यहीं वे अन्य कहानीकारों से अलग हो जाते हैं। एक अर्से से कहानियाँ लिख रहे रवि बुले की 'आईने, सपने और वसंतसेना' पहला कहानी संग्रह है। रवि की लगभग सभी कहानियाँ मानवीय चिन्ताओं और सरोकारों पर उँगली रखती है। रवि बुले अपनी कहानियों में भाषाई स्तर पर कदम-कदम पर चमत्कृत करके रख देते हैं। रवि बुले की कहानियों में हमारे समय की भयावह अनुगूँजें भी सामने आती हैं। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित युवा कहानीकारों के इस सेट में चार महिला रचनाकार भी हैं। इन रचनाकारों में कविता, अल्पना मिश्र, मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों का यह दूसरा संग्रह है। हिन्दी कहानी में इन सभी रचनाकारों को चीन्ह लिया गया है। महिला रचनाकारों में अल्पना मिश्र की कहानियाँ किस्सागोई, भाषा, शिल्प और शैली के स्तर पर पाठक को गहरे प्रभावित करने की सामर्थ्य रखती हैं। कविता और मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों में स्त्री-विमर्श भी है और स्त्री की दुनिया भी पूरी तरह से खुलती है। शर्मिला बोहरा जालान की कहानियों का यह पहला संग्रह है मगर एक रचनाकार के रूप में उनकी कहानियाँ आम जीवन की सीधी-सच्ची दास्तान हैं। इन कहानियों में लेखिका खुद ही किशोरी, बालिका और स्त्री के अनेक रूपों में मौजूद है। इसी सेट में संजय कुंदन (बॉस की पार्टी), तरुण भटनागर (गुलमेंहदी की झाड़ियाँ), राकेश मिश्र (बाकी धुआँ रहने दिया) भी है। संजय कुंदन कविता के प्रतिष्ठित हस्ताक्षर तो हैं ही वे पत्रकारिता पर 'केएनटी की कार' जैसी सशक्त कहानी लिखकर अपनी पहचान बना चुके हैं। छत्तीसगढ़ निवासी रचनाकार तरुण भटनागर की कहानियों का ताजापन, कथ्य और तथ्य की ताजगी उन्हें एक अलग भावबोध का कथाकार साबित करते हैं। राकेश मिश्र की कहानियों पर कथाकार उदयप्रकाश लिखते हैं 'राकेश मिश्र की विलक्षण कहानियाँ ठीक उसी संक्रान्त काल के उन पलों को भाषा में दर्ज करने का प्रयत्न करती हैं जिन पलों में इतिहास और स्मृति, शब्द और अर्थ, राजनीति और विचार, मिथक और यथार्थ एक दूसरे के संहार के लिए हर रोज हमारे सामने नए रूपक रचते हैं। राकेश मिश्र की कहानियाँ अत्यन्त संभावनापूर्ण, स्मृति और अर्न्तदृष्टि सम्पन्न युवा कथाकार की अविस्मरणीय कहानियाँ हैं।'

'भूलना' भारतीय ज्ञानपीठ के युवा लेखन पुरस्कार से सम्मानित युवा रचनाकार चन्दन पाण्डेय का पहला संग्रह है। चन्दन पांडेय कहानी के ढाँचे में लोककथा और कलात्मक परिपक्वता का नया वितान रचते हैं। चन्दन पाण्डेय अपनी कहानियों से पाठक को बाँध लेते हैं। बरबस और न भूलने वाली कहानी रचते हैं।

इन सभी युवा कहानीकारों की एक और विशेषता है कि इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कहानीकारों से प्रेरणा जरूर ली है, लेकिन अपनी कहानियों में एक नई भाषा, तेवर, शिल्प, शैली खुद गढ़ी है जो पूर्ववर्तियों से बिल्कुल भिन्न है। आने वाले समय में इन रचनाकारों के लिए एक चुनौती यह भी होगी कि ये अपनी रचना यात्रा को कितना आगे ले जा पाते हैं और कितनी सार्थक कहानियाँ लिख पाते हैं। इन कहानीकारों के आगमन से हिन्दी कहानी का कुनबा और बड़ा तथा समृद्ध हो गया है।

मुन्ना बैण्डवाले उस्ताद (शिवदयाल)/ **कैरियर, गर्लफ्रेंड और विद्रोह** (अनुज)/ **सौरी की कहानियाँ** (नवीन कुमार नैथानी) और **अकथ** (रणविजय सिंह सत्यकेतु)/ भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-3/ मूल्य : 120 रु. (प्रत्येक पुस्तक)

पॉकेट-डी-1/104डी, डी.डी.ए. फ्लैट्स, कोंडली, दिल्ली-110096 मो. : 9958226554

हिन्दी कविता आजकल : दो

हरदयाल

हिन्दी में जो कवि रचनात्मक स्तर पर सक्रिय हैं, उनकी कविता से जब हम गुजरते हैं तो वस्तु और शिल्प के स्तर पर उनकी कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ भी सामने आती हैं और उनकी वैयक्तिक विशिष्टताएँ भी। यह बात यहाँ समीक्षित पाँच कवियों की 'कवि ने कहा' शृंखला में संकलित प्रतिनिधि कविताओं से स्पष्ट होती है।

इन कवियों में वरिष्ठतम विजेन्द्र (जन्म, 10 जनवरी, 1935) है। राजस्थान के आदिवासियों पर कविता, भ्रंश अरावली, पापड़ी का पेड़, चिड़िया जैसी कविताएँ, 'शहर आगरा', भाषा को दरबारों से मुक्त कराने की बात (पृ. 93) जैसी चीजें उनकी कविता में कभी नहीं आ पातीं, अगर उनके जीवन का अब तक का अधिकांश राजस्थान में न बीता होता। उनकी कविताओं से लगता है कि उनके मूल संस्कार ब्रज क्षेत्र के ग्रामीण अनुभव से बने हैं। अपने इन्हीं संस्कारों के कारण उन्हें ब्रज क्षेत्र की प्रकृति और वहाँ के आम आदमी से विशेष लगाव है। उन्होंने 'सरसों ढल रही है' (पृ. 55) शीर्षक के अन्तर्गत एक पूरी कविता ही लिखी है। वे प्रकृति का चित्रण करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते; वे उसके सहारे सोचते भी हैं। 'पहले तुम्हारा खिलना' शीर्षक कविता में वे एक सफेद फूलों वाले पौधे का चित्रण करते हैं, उसे 'सलौना' नाम देते हैं और फिर उसके सहारे सोचते हैं। कविता की ये अन्तिम पंक्तियाँ सोचने का ही परिणाम हैं

पहले उद्‌भिज्ज का धरती से
फूटना/फिर उसके बारे में/
भावत्वरित सोचना।/
अगर यह उजासित नहीं खिलता/
तो शून्य भरता कैसे/ मैं सोचता कैसे/
जैसे पहले पहल/तुम्हारा होना/
बाद में तुमसे भिन्न होकर/
एक होकर खिलना। (पृ. 120-121)

विजेन्द्र के अनुसार कविता पहले बनी बनाई पगडंडी पर चलकर फिर अपनी नई पगडंडी बनाना है। (पृ. 132) उनके अनुसार कविता आदमी के बड़े इरादों से जन्म लेती है। (पृ. 55) वे मानते हैं कि कविता का लक्ष्य शत्रु को पहचानना और उससे लड़ना है। (पृ. 21-22) कविता को लेकर उनकी ये स्थापनाएँ उनके वामपंथी रुझान का परिणाम हैं।

जहाँ तक विजेन्द्र की कविताओं के शिल्प का सम्बन्ध है, वह सहज है। उनकी कविताओं को समझने के लिए हमें माथापच्ची नहीं करनी पड़ती। वे भी आज के तमाम कवियों की तरह नए और सटीक उपमानों का उपयोग करते हैं। उनकी भाषा में आचंलिकता की रंगत है, जो आंचलिक शब्दों, अनेक शब्दों के आंचलिक उच्चारणों और अनेक कविताओं के आंचलिक एवं ग्राम्य परिवेश से आई है।

विजेन्द्र तो उत्तर प्रदेश में जन्मे, पढ़े-लिखे और राजस्थान में जाकर बस गए, लेकिन ऋतुराज तो राजस्थान में ही जन्मे, पले-बढ़े और वहीं चालीस वर्ष तक अंग्रेजी पढ़ाते रहे। इसलिए उनकी कविता में राजस्थानीपन ज्यादा है। 'एक दिन मुरिया शहर आए' जैसी कविता वही लिख सकते थे और यह स्थापना सामने रख सकते थे कि जब राजस्थापन का आदिवासी पठार छोड़कर शहर की तरह भागता है तो नष्ट हो जाता है। शहर उसे रास नहीं आता। 'जंगल के दावेदार', 'जुझारनाथ' जैसी कविताएँ उनके राजस्थानी अनुभव से प्रसूत हैं। 'हसरुद्दीन' कविता में वे एक अध्यापक का चित्र खींचते हैं। वह नई दुनिया की नींव रखनेवाला होकर भी दलदल, कीचड़, काई के पोखर में रहने को विवश है। वह समझौता करता है अपनी समझ से। हसरुद्दीन को यह समझौता अपने धर्म की वजह से भी करना पड़ता है; लेकिन ऋतुराज इस समझौते के पक्ष में नहीं हैं। इस कविता में और अन्य कई कविताओं में भी उनका सांप्रदायिकता- विरोध व्यक्त हुआ है।

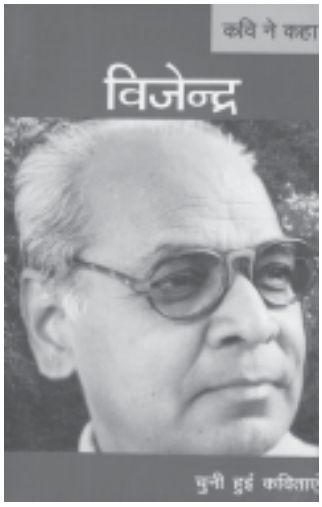

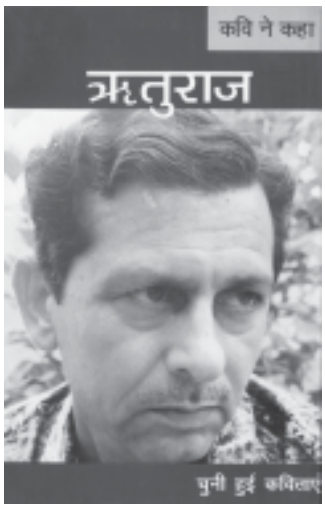

ऋतुराज ने मुक्तिबोध, कर्पूरी ठाकुर और शीलजी पर भी कविताएँ लिखी हैं। ऐसी कविताएँ उनकी प्रगतिशील चेतना को व्यक्त करती हैं। अपनी इसी प्रगतिशील चेतना को उन्होंने पूँजीवाद, भूमण्डलीकरण, बाजारवाद, हर तरह के शोषण, मूल्यहीनता से ग्रस्त राजनेताओं, दक्षिणपंथी राजनैतिक दलों,

सामाजिक-आर्थिक विषमता, डॉक्टरों के द्वारा रोगियों के शोषण आदि के विरोध के रूप में अभिव्यक्ति दी है। वे प्रकृति के विनाश के विरोधी हैं। जो इन चीजों का विरोध नहीं करते, उनके प्रति उनके मन में कटुता है

देखना सुनने से सौ गुना घातक है/
और देखकर अनदेखा/कर देना हजार गुना.../
तुमने जो अभी देखा सच नहीं था महज एक साजिश थी/ इसी तरह आँखों ने धोखा खाया है/ एक आँख दूसरी आँख/के देखे को झुठलाती रही है/ हो सकता है कान फिर से/ अपना आधिपत्य जमा लें/ और आँखों को काजल की कोठरी/ में डाल दिया जाये/ हो सकता है अन्धता को एक सर्वव्यापी/ राष्ट्रीय आपदा स्वीकारा जाये/ और झूठ की निर्लज्जता/ का सार्वजनिक सत्कार हो। (पृ. 92; 93)

ऋतुराज के इस संग्रह में कुछ ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें आत्मकथात्मक तत्व हैं। उनकी कविताओं से हम जान जाते हैं कि वे अध्यापक रहे हैं। 'उसका स्पर्श' कविता में अपने न रहने, बेटी और पोती के उनको याद करने की बातें लगता है कि उनके अपने निजी जीवन से सम्बन्धित हैं, क्योंकि इस कविता के अतिरिक्त कुछ और कविताओं में भी कन्यादान, पिता और पुत्री के सम्बन्ध, महिला पुलिस और उसकी बहन के सम्बन्ध, बुढ़ापे की चर्चा, अपनी मृत्यु की कल्पना आदि को उन्होंने व्यक्त किया है। वैसे, कविता में, और कविता में ही क्यों, समस्त सृजनात्मक साहित्य में रचनाकारों के आत्मकथात्मक तत्वों ने अभिव्यक्ति पाई है। बस, आजकल वे अधिक प्रत्यक्ष होने लगे हैं।

शिल्प के स्तर पर ऋतुराज की कविताओं में जो चीजें विशिष्टता लाती हैं उनमें से एक चीज है नए उपमान। ''वोट एक विधवा की पेंशन के कागज जैसा रद्दी का टुकड़ा था/शहर एक मानवशास्त्रीय संग्रहालय था।'' (पृ. 132) जैसी उपमाएँ हमें अनायास आकर्षित करती हैं। उनमें वाग्कौशल भी खूब है। 'लहर' शीर्षक पूरी कविता एक वाग्कौशल के उदाहरण के रूप में देखी जा सकती है। कभी-कभी लगता है कि आजकल कविताओं में यह वाग्कौशल और कभी-कभी वाग्छल, अनिवार्य है, क्योंकि बहुत साधारण बात को असाधारण और महत्त्वपूर्ण बनाकर प्रस्तुत करना इसके बिना सम्भव नहीं है।

जब हम विष्णु खरे की कविताएँ पढ़ते हैं तो स्पष्ट होता है कि बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक एक मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन और उसके चारों तरफ के जीवन में स्वदेश में और विश्वस्तर पर जो कुछ घटा है, कविताओं में उस सब का एक दस्तावेज प्रस्तुत कर दिया गया है। वे छिंदवाड़ा में जन्मे हैं, यह सूचना फ्लैप पर तो है ही; यदि यह सूचना फ्लैप पर न भी होती तो भी उनकी 'मिट्टी' शीर्षक कविता से इसे हम जान जाते ''समझते रहे हो जैसे छिंदवाड़ा तुम्हारी बपौती है/आँखें खोलकर देखो चूतिए कौन आया है छिंदवाड़ा से लगातार।'' (पृ. 71) इसी प्रकार उनके बचपन से जुड़ी अनेक बातें; उनके माता, पिता, भाई, बुआ, उनके बच्चों, उनके पढ़ाकूपन, मयूर विहार में उनके फ्लैट, उनके घर-गृहस्थी के सामान, पुस्तकालयों से उनके सम्बन्ध, पुस्तकालय से कराई गई प्रतिकृतियाँ, अप्रिय काम करने की विवशता, चित्रकला, संगीत और विदेशी साहित्य में उनकी रुचि आदि तमाम बातों से हम उनकी कविताएँ पढ़कर परिचित हो जाते हैं।

इन तमाम वैविध्यपूर्ण विषयों से भरी उनकी कविताएँ अधिकांशतः कथात्मक, वर्णनात्मक या विवरणात्मक हैं। अनेक कविताएँ ऐसी हैं, जिनको यदि हम प्रतीकात्मक न मानें तो वे तथ्यात्मक सूचनात्मकता से आगे नहीं बढ़ पातीं; जैसे 'देर से आने वाले', 'दूरबीन', 'लड़कियों के बाप', 'द्रौपदी के विषय में कृष्ण', 'सिर पर मैला ढोने की अमानवीय प्रथा' आदि। ऐसी कविताएँ कविताएँ कम कहानियाँ, निबन्ध या अखबारी रपटें ज्यादा लगती हैं और हमारे मन में इनके कविता होने पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। ऐसी कविताओं के कविता होने पर हमें ही नहीं, विष्णु खरे को भी सन्देह है। नरसिंह राव को लेकर उन्होंने 'एक प्रकरण : दो प्रस्तावित कविता-रूप' शीर्षक जो कविता लिखी है, उसके दूसरे प्रारूप 'आपसे एक सलाह लेनी है' में उन्होंने स्वयं लिखा है ''कविता के बारे में कविता लिखने/और उसमें भी कविता के बारे में सलाह माँगने से/मुझे सख्त नफरत है/...और यदि इस पर असहमति न हो कि कविता में ऐसे विषय आ सकते हैं/तो क्या कोई ऐसी काव्य-शैली भी सम्भव है/जिसमें ऐसा इसी तरह कह सकते हों/यानी अपनी बात भी रह जाए/और काव्य-प्रेमियों और कला-पारखियों की/भावनाओं और कसौटियों को ठेस भी न पहुँचे।'' (पृ. 101-102)

इस सबके बावजूद विष्णु खरे की प्रयोगशीलता और विशिष्टता का कायल तो हमें होना ही पड़ेगा, चाहे हम उनकी कविताओं के कवित्व से कितने ही अप्रभावित क्यों न रहें।

उपर्युक्त कवियों की तुलना में उदय प्रकाश सर्वाधिक आत्मसजग कवि हैं। निःसन्देह उनकी सजगता अपने परिवेश के प्रति भी है, लेकिन आत्म के प्रति कुछ ज्यादा ही है। उन्होंने संग्रह की 'कविता की नैतिकता' शीर्षक भूमिका में अपने सम्बन्ध में अनेक सूचनाएँ दी हैं, जैसे, माता-पिता की मृत्यु; बचपन में हुए प्रेम-प्रसंग; उनके भविष्य को लेकर उनके माता-पिता की चिन्ता; उनके द्वारा रचित कविताएँ, चित्र और कहानियाँ उनके अकेलेपन और असुरक्षा के एकमात्र शरण्य होना और कवि होने की उनकी यह कसौटी ''और जिसका शरीर रात में चन्द्रमा की तरह नहीं चमकता। जो एक अपराजेय सम्राट की तरह आकाश को नहीं ताकता। काल और संसार जिसकी शिराओं में द्रव की तरह प्रवाहित नहीं होता, उसे मैं कभी कवि नहीं मान पाता। चाहे वह कितना ही बड़ा सम्पादक,

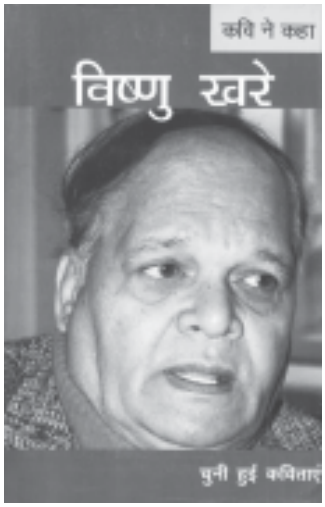

पत्रकार, राजनीतिक नेता या अफसर क्यों न हो।'' (पृ. 6)

इस आत्मसजगता का परिणाम यह हुआ है कि उन्होंने कविताओं में अपने सम्बन्ध में, अपने पिता और बहन के सम्बन्ध में अनेक सूचनाएँ दी हैं, साहित्य और कला के क्षेत्र में गुटबन्दी और पुरस्कारों को लेकर चलने वाली धाँधली का रोना रोया है, मित्रों के द्वारा उपेक्षा की शिकायत की है, प्रेमियों के मिलने, बिछुड़ने और पूर्व-प्रेम को भूलने की चर्चा की है आदि। उनकी 'दरवाजा' जैसी कविताएँ उनकी असामान्य मानसिकता की संकेतक हैं। यह असामान्य मानसिकता क्यों है, इसका उत्तर हमें उनकी 'शत्रु' जैसी कविताओं में मिल जाता है। उनका कहना है कि वे बचपन से लेकर अब तक अनेक शत्रुओं को ढोते रहे हैं और ''मैंने शत्रुओं को बीनना शुरू किया/अपनी जेबों से, किताबों की अलमारी/पुरानी चिट्ठियों/तस्वीरों/अपनी कमीज और/कभी के छोड़े गए कस्बों-मुहल्लों से।' (पृ. 62) जिसके साथ तमाम शत्रु लगे हों और उन्हें उसे लगातार बीनना पड़ता हो, वह सामान्य मनःस्थिति में कैसे रह सकता है? अनेक चीजों को लेकर उनकी सोच भी असामान्य है। जैसे, 'पंचनामे में जो दर्ज नहीं है' कविता में माता-पिता के द्वारा ब्याह दी गई स्त्रियों की दुर्दशा, उन पर होने वाले अत्याचार और यन्त्रणा का चित्रण इस प्रकार किया गया है जैसे इस प्रकार ब्याह दी गई सभी स्त्रियों के साथ यही होता है। हमारे मन में प्रश्न उठता है कि क्या यह पूर्ण सत्य है? क्या स्वेच्छा से विवाह करने वाली स्त्रियों में से किसी के साथ यह सब कुछ नहीं घटता?

उदय प्रकाश की कविताओं में शिल्पगत सजगता भी खूब है। वे सीधे-सीधे विवरण, वर्णन या अभिधात्मक कथनों के द्वारा अपनी बात कम ही कहते हैं। वे अक्सर अपनी बात कहने के लिए प्रतीकों, बिम्बों, विरोधाभासों यानी भाषा के लाक्षणिक और व्यंजनात्मक प्रयोगों को अपनाते हैं। इससे सामान्य-सी बात असामान्य लगने लगती है। उदाहरण के लिए 'मरना' ##शीर्षक कविता देखी जा सकती है ''आदमी/ मरने के बाद/कुछ नहीं सोचता।/ आदमी/ मरने के बाद/ कुछ नहीं बोलता।/ कुछ नहीं सोचने/ और कुछ नहीं बोलने पर/ आदमी/ मर जाता है।'' (पृ. 41) इस कविता में उसके व्यंग्यार्थ को भी अभिधार्थ में रख दिया है। इससे कविता कमजोर हो गई है। लेकिन सर्वत्र ऐसा नहीं हुआ है। कहीं-कहीं वे अपनी अनूठी सूझ से भी हमें चमत्कृत करते है।; जैसे, 'चौथा शेर' शीर्षक कविता में। अपने अन्य समकालीनों की तरह उन्होंने भी नए-नए उपमानों का उपयोग अपनी कविता में किया गया है; जैसे, ''मैं बाहर ठण्ड और अन्धेरे में अपनी पुरानी कमीज में पुलिस और गुण्डों से बचता/इस समूचे समय को मूँगफली के छिल्कों से पाटता/किसी कोढ़ी/या किसी भिखमंगे फकीर/या किसी आतंकवादी की तरह/सारी दिल्ली में घूम रहा था।'' (पृ. 101)

विष्णु नागर की गणना भी आत्मसजग कवियों की श्रेणी में करनी होगी। एक तो इसलिए कि तमाम रचनाकारों की तरह आलोचकों से उन्हें भी शिकायत है। उनका मानना है कि ताकत के पीछे न भागने की ताकत रखने वाला ही ऐसी कविता लिख सकता है जो सिर्फ तब याद आती है जब ''दिल भरा हो मगर रोया न जा रहा हो'' और ''जो कविता-सी न हो, जो आलोचकों के किसी काम की न हो।'' (पृ. 11) दूसरे इसलिए कि उनकी तमाम कविताएँ आत्म-कथात्मक हैं। उन्होंने माँ को लेकर इतनी कविताएँ लिखी हैं कि हमें लगता है कि वे अपनी माँ के प्रति 'मातृग्रन्थि' (इडिपस कॉम्प्लैक्स) की हद तक आसक्त हैं।

मैं भावुकता के सख्त खिलाफ हूँ मगर

रो पड़ता हूँ,/मैं रोने-धोने के विरुद्ध हूँ मगर रो देता हूँ/यह कविता लिखते-लिखते भी क्या पता मैं रो पड़ूँ/हालाँकि यह कविता किसी को ठीक-ठीक रुलाएगी नहीं। (पृ. 34)

इसी भावुकता का परिणाम उनकी अधिकांश कविताओं की मूल प्रवृत्ति व्यंग्य है। जब कोई भावप्रवण व्यक्ति अपने चारों ओर ऐसे व्यक्ति, घटनाएँ, स्थितियाँ आदि देखता है, जो अवांछित और अप्रिय लगती हैं, लेकिन न तो वह सीधे-सीधे उनसे टकरा सकता है और न उन्हें बदल सकता है तब वह व्यंग्य का सहारा लेता है। उन्होंने राजनेताओं, राजनैतिक दलों, जनतन्त्र, हिन्दू राष्ट्रवादियों, विचारधारा बदलने वालों, मन्त्रियों, अधिकारियों, पूँजीपतियों, जनतंत्र के दलालों, अमरीका आदि को अपने व्यंग्य का पात्र बनाया है। इन्हें हिन्दी के अन्य तमाम कवियों ने भी अपने व्यंग्य का पात्र बनाया है। विष्णु नागर की कविताओं का व्यंग्य बहुत तीक्ष्ण नहीं है और कहीं-कहीं व्यंग्यता है लेकिन कवित्व नहीं है। उदाहरण के लिए, 'सिस्टम' (पृ. 34-35) कविता देखी जाती है। इसमें व्यंग्य तो है लेकिन यह मानना मुश्किल है कि यह कविता भी है। कहीं-कहीं यह भी स्पष्ट नहीं है कि व्यंग्य का लक्ष्य कौन है। जैसे 'नया राष्ट्रगान' (पृ. 37) शीर्षक कविता पढ़कर हम यही पूछते रह जाते हैं कि इसमें व्यंग्य का पात्र कौन है राष्ट्रगान, उसे गाने वाले या उसके प्रति गम्भीरता न रखनेवाले?

आकार की दृष्टि से विष्णु नागर की प्रायः सभी कविताएँ छोटी-छोटी हैं और गुणवत्ता की दृष्टि से भी।

स्पष्ट है कि इन कविताओं के द्वारा आजकल की हिन्दी कविता का प्रतिनिधि परिदृश्य सामने आ जाता है, जिसमें व्यक्तिगत वैशिष्ट्य भी है और इसीलिए प्रवृत्तिगत वैविध्य भी।

'कवि ने कहा' शृंखला में विजेन्द्र, ऋतुराज, विष्णु खरे, उदय प्रकाश और विष्णु नागर के कविता-संचयन/ किताबघर प्रकाशन, 8555-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2/ मूल्य : 80 रु. (प्रत्येक)

एच-50, पश्चिमी ज्योतिनगर, पं. गोकुलपुरी, दिल्ली-110094, मो. 9871328269

मनुष्यता की रात में जगहर की पदचाप

रेवती रमण

कला-शिल्प का मोह त्याग लो पियो हलालह प्याला।/जीवन तब गह पाओगे जब भीतर जगे निराला॥

दिनेश कुमार शुक्ल के नए संग्रह 'ललमुनियाँ की दुनिया' में ऐसी कई कविताएँ हैं, कला-शिल्प के मोह-पाश से मुक्त। इनमें एक नए जनपक्षधर कवि की आकृति है। एक स्वभावसिद्ध कवि, जो अपनी जातीय कविता की शक्ति और शील से सुपरिचित है और जिसका अन्तःकरण राग-रंजित है, देशकाल के शर से बिंधकर जनसंबद्ध रचना के उदाहरण प्रस्तुत करता है। उसका अभिव्यक्ति के ललित रूप से अपनापा छिपा नहीं रहता। छन्दोबद्ध लिखने में उसे महारत हासिल है। तथापि मुक्तवृत्त और नज्म-शैली में लिखने की प्रवृत्ति यथार्थ से मुठभेड़ की मनीषा है। एक बड़ी वजह इसकी यह भी है। एक ऐसे विचार से कवि ने खुद को बाँधना चाहा है जो 'सब बन्धन तोड़ने का विचार' है। अन्याय से लड़ने वह कविता में आया है 'बन प्रवाह उद्दाम तोड़ने जड़ता के पर्वत को।' दिनेश कुमार शुक्ल ने इसके लिए खुद को तराशा है, साधा है।

इस संग्रह में उनतीस की संख्या में दोहे संकलित हैं। कई अन्य रचनाएँ भी छन्दोबद्ध नहीं तो छन्द का आभास देती कविताएँ हैं। अपने भाव-विचार को अधिकाधिक जन के लिए संप्रेष्य बनाने की यह युक्ति हो सकती है। पर कवि को 'छन्द की वापसी' के प्रति आश्वस्ति नहीं है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं

ले दोहों की दोहनी, रगड़ रगड़कर माँज।
दुहने बैठा बुद्धि की भैंस हो चली बाँझ॥
मुँह में भरकर रेत-सा, वाक्यहीन वक्तव्य।
शीर्षासन करता खड़ा, मेरे युग का सत्य॥
सीरी सीरी है हवा, ठण्डी ठण्डी छाँव।
सन्निपात का ज्वर चढ़ा, झुलस रहा है गाँव॥

जाहिर है, छन्द में युग-सत्य की अभिव्यक्ति शीर्षासन से कम नहीं। हिन्दी के प्रथम प्रगतिशील कवि रामेश्वर 'करुण' ने 'करुण सतसई' ब्रजभाषा में लिखी थी। बिहारीलाल की स्वायत्त संरचना को उन्होंने मार्क्सवाद के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाया। युगानुरूप कविता कुछ अधिक ही प्रचारात्मक हो चली। नागार्जुन आदि ने भी दोहों में नवयुग को वाणी देने का प्रयास किया। दिनेश कुमार शुक्ल के प्रयोग असमर्थ नहीं हैं, बावजूद इसके छन्द में लिखने के पीछे कविता के लिए समाज में स्पेस बनाने की उनकी विकलता ही

प्राथमिक है। वह अपनी शालीन और संयमित शब्दावली में ही प्रगतिकामी हैं, संक्षेप में, समकालीन। पर समकालीन की कोई रीति है, रूढ़ि है तो उसके यान्त्रिक वृत्त से बाहर निकलने की बेचैनी के साथ। 'स्वान्तः सुखाय' से आगे भूख-रोग-बेकारी से जूझती दुनिया से जुड़ने की ललक के साथ। दिनेश एक सपने देखने वाले कवि हैं। उनकी कविता मनुष्यता की रात में जगहर की सूचना है

'चमक रही है धीरे-धीरे धरती के आभ्यन्तर में/ अब जगहर की पहली पदचाप/ स्वप्नों के झुरमुट में सोया/ कलरव भी जगने वाला है।'

यह कोई भ्रम या छलावा नहीं है। यथार्थ का दृश्यमान पहलू नैराश्यपूर्ण लग सकता है। उसका दूसरा अदृश्यपहलू कवि से घर से बाहर निकलने की माँग करता है। वह अधिक रचनात्मक और उम्मीद जगाने वाला है। दिनेश का बल वर्ण्य-विषय की समग्रता पर है। उनका भविष्यवाद प्रकृति और परिवेश के सूक्ष्म निरीक्षण और लोकजीवन में कवि की गहरी पैठ पर आधारित है

'अभी ओस का अन्तिम मोती भी टपकेगा/ इसी घास पर सूरज बनकर/ सरसों के समुद्र के भीतर/ भरती चली जा रही है वसन्त की सरिता/ रेंग-रेंगकर नमक/ चने के पौदों में भर रहा लुनाई।'

यह उम्मीद की कविता है। ओस, घास, सूरज, सरसों, समुद्र, वसन्त की सरिता, पौदे, नमक, लुनाई एक ही जगह। अवसाद और हताशा के घेरे के बाहर भी जीवन है। यथार्थ के रेतीले विस्तार में जलाशय-निर्माण भी कवि-कर्तव्य है। दिनेश की कविता में जनपदीय उपकरण प्रचुर

हैं। अपना जनपद, वहाँ के लोग, वातावरण और लड़ता हुआ समाज सबकी कर्मशील उपस्थिति। अनिवार्य होने पर तनी हुई मुद्रा। लेकिन करुणा और मानवीय समृद्धि में विशिष्ट। इस कवि की प्रेमानुभूति में गालिब और निराला की यादें हैं। जैसे जब वह लिखता है 'प्रेम की भी एक वैतरणी होती है जिसका दूसरा तट नहीं होता।' तो 'आग का दरिया है और डूब के जाना है' की धुन सुनाई पड़ती है। ऐसे ही 'प्रेम के पंथ' में बोधा की अनुगूँजे हैं। अधिक उदार। यहाँ चाँद और समुद्र है, अलग से मन्दराचल भी

'चाँद था आज तलवार की धार-सा...
लपलपाती हुई चाँदनी की चमक
उस चकाचौंध में रास्ता खोजता
रातभर वह उजाले में उलझा रहा
उसकी आँखों में इतने अधिक स्वप्न थे
और सपनों की कोई नदी
मन्दराचल से आई उमड़ती हुई
और आत्मा के सागर को भरती रही।'
(पृ. 100)

प्रेमगीत की संवेदना को जीर्ण बिम्बों में उजागर करना, कवि के लिए अपरिहार्य हो सकता है, है भी। सब साफ-साफ कैसे कहा जा सकता है? शमशेर की विख्यात पंक्तियाँ है

'कहाँ किया मैंने प्रेम अभी/ जब करूँगा प्रेम/ पिघल उठेंगे युगों के भूधर/ उफन उठेंगे सात सागर.../ सरल से भी गूढ़, गूढ़तर तत्त्व निकलेंगे/ अमित विषमय/ जब मथेगा प्रेम सागर हृदय।'

दिनेश कुमार शुक्ल की प्रेमानुभूति शमशेर से किंचित भिन्न इस अर्थ में है कि उनके यहाँ सम्भावित से अधिक आवेग घटित में लक्षित होता है। स्वप्नमय समानान्तर राग बाह्य जीवन के संताप को बेअसर करने पर आमादा हो।

'मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है' की सरल-सी अभिव्यक्ति को उनकी एक कविता 'दो पुंज' में अभिनव अभिव्यक्ति मिली है

'दो प्रकाश के पुंज गगन की गहराई में/ एक दूसरे को सदियों से खोज रहे थे/ चकाचौंध में एक दूसरे को भरमाकर/ रहे भटकते से अनन्त की यात्राओं में/ चलते-चलते आखिर में जब मिले अचानक/ मिलना, मिलना न था, जोर से टकराना था/ चूर-चूर हो जाना और बिखर जाना था।' (पृ. 95)

कवि भौतिकवादी तो है ही, भौतिकीविद् भी है। भौतिकी के ज्ञान से आलोकित जीवन की मार्मिक अनुभूतियाँ कविता-स्थिति सघन करती हैं। कवि प्रेमी है, उसकी खास कुछ बेताबियों का एक ही रंग नहीं है, फिर भी। संवेदना दर्शन की ऊँचाई चाहती है। 'प्रेमपुर' इस संग्रह की स्मृति और स्थानिक उपकरणों के मिलन से अर्जित एक ऐसी कविता है, जिसे पढ़ते हुए कबीर और रैदास की 'बेगमपुरा' की याद ताजा हो जाती है। उसमें वनस्पतियों और फूलों की उपस्थिति अर्थ और अभिप्राय के स्तर से संश्लिष्ट है। 'जनम अवधि का जागा' कवि नींद को चादर की तरह ओढ़ना चाहता है। 'विदा की वेला' में अकेले और अन्तिम चटक पीले फूल का खिलना ऐसा है जैसे खंजन आ गए हों और तरोई की लता अब जा रही है।' यहाँ तरोई की लता देखने में नहीं आती।

बहरहाल, 'ललमुनिया की दुनिया' संग्रह की सबसे अच्छी कविताएँ प्रकृतिपरक हैं। 'ललमुनिया' कोई चिड़िया है, कँटीली झाड़ियों में नीड़-निर्माण में व्यस्त। उसकी 'दुनिया में जीवन है, जीवन में हँसता बचपन' है। दिनेश बच्चों की दुनिया में बच्चा बनकर जाते हैं तो इससे बाल और वयस्क कविता का फर्क कम हो जाता है। उनमें भाषा से खेलने की प्रवृत्ति भी यहाँ-वहाँ लक्षित होती है। जबकि उनकी कलम की ताकत का अहसास एक अन्य सन्दर्भ में भी होता है। वह है कल्पना और विचार के पार चले जाने की आकांक्षा। इससे भाष्यकारों की मुश्किल बढ़ जाती है। कई बार हम स्तब्ध रह जाते हैं। गुनते हुए, ध्वन्यर्थ का पीछा करते हुए। यह एक दृष्टि में कवि की सामर्थ्य है, लिखने-बोलने के अलग-अलग रंगों में निहित। जब भाषा एकाकी माध्यम न रहकर अनेक माध्यमों का सम्मिश्रण होना चाहती है।

एक ऐसा कवि जो धरती को अपनी माँ कहता है और जो महसस करता है 'फिर से दूध उतर आया है/धरती की बूढ़ी छाती में' (पृ. 14) वह लीलावादी, आस्वादी या स्यादवादी भी कैसे हो सकता है? सम्भावनाओं की टोह में हर क्षण सजग एक बड़ी क्षमता का कवि ही लिख सकता है

'हो सकता है/ कभी एक छोटा-सा विचार उठे/ और निर्मूल कर दे दुनिया के सारे दुःख।' (पृ. 18)

दिनेश के इस संग्रह में प्रकृति को कवि की जीवनानुभूतियों से अलग देख पाना मुश्किल है। फिर भी 'पान-फूल', 'स्वाती की रात', 'शारदीया' और 'प्रपात' की छवियाँ मनोरम हैं। पौधों-फूलों-रंगों के पारखी कवि की आकृति आकर्षक है। आज ऐसे कवि दुर्लभ हैं, जिन्हें छह ऋतुओं का संज्ञान हो, दर्जन भर फूलों और चिड़ियों को वे उनके नाम से पहचानते हैं। रूप-रस-गन्ध से अपरिचय की स्थिति में प्रतिबद्धता कविता में विकलांग होती है। यथार्थवादी होना व्यंजक तभी हो सकता है जब कविता प्रकृत्या असंदिग्ध हो। वचन वक्रता के अभाव में कवि-व्यक्तित्व आरोपित लगता है। दिनेश कुमार शुक्ल किन्हीं अंशों में नागार्जुन की परम्परा से जुड़ते हैं तो त्रिलोचन को एकदम से तज के नहीं। उनकी कविताओं में स्वतःस्फूर्त संवेदना के रूपकों और बिम्बों की कमी नहीं है। बल्कि, उनकी छोटी कविताएँ अधिक संकेतप्रद हैं। नमूने में केवल दो का यहाँ उल्लेख करूँगा

1. चन्द्रोदय
'उड़ो हंस?
इस सोती हुई नीलिमा में
कुछ लहरें पैदा करो
तुम्हारे उड़ने से/चन्द्रमा उदित होकर
मुंडेर तक आ जाएगा।' (पृ. 16)
2. पुनरोदय
'डूबे सूर्य के पुनरोदय का भ्रूण लिए
यह रात गहन घिर आई है,
शोकाकुल लय के समतल में
अब चाहो। तो तुम सो जाओ।'
(पृ. 32)

'हंस' हमारे यहाँ आत्मा और प्राण के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'सोती हुई नीलिमा' खामोशी का संकेत देती है। हंस के उड़ने में एक नैसर्गिक स्वरारोह। 'चन्द्रमा उदित होकर मुंडेर तक आ जाएगा' रागात्मक ऐश्वर्य की पूर्णता की संकेत-व्यंजना है। चाँद या चन्द्रमा दिनेश की कविता में अक्सर प्रेम का आलम्बन है। दूसरी कविता में रात गर्भवती है। उसके भीतर सूर्य के पुनरोदय का भ्रूण पल रहा है। यहाँ कल्पना अतिरंजित नहीं है। शोक से आकुल मन की दशा आवेग-उद्वेग से मुक्त होती है। इसमें नींद का आश्रय लेना क्या कुछ व्यक्त नहीं करता। दिनेश पहेली नहीं बुझाते लेकिन कविता-प्रेमियों की कल्पना और ग्रहण-क्षमता के प्रति उदासीन भी नहीं रहते। उनकी कविता सब समय बच्चों के स्लेट पर लिखी वर्णमाला नहीं होती। उनमें अर्थ और अभिप्राय की व्यापकता है, गहराई भी।

उनकी ये पंक्तियाँ देर तक जेहन में जल तरंग-सी बजती रहती हैं

'अगर तुमने छू लिया खुद को
कभी एकान्त में
तो हजारों साल बाद भी
हमारे रक्त का संगीत आएगा
उमड़ता ढूँढ लेगा तुम्हें और ले जाएगा।'
(पृ. 34)

'रक्त का संगीत' सुनने-सुनाने का यह सलीका आज के कितने कवियों में है?

ललमुनियाँ की दुनिया/ दिनेश कुमार शुक्ल, अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद/ मूल्य : 175.00

22, रीडर्स क्वार्टर्स, यूनिवर्सिटी कैम्पस, मुजफ्फरनगर (बिहार)-442001

संस्मरण

राजेन्द्र यादव पर अन्तिम बोली लगाने का समय अभी नहीं आया है।

कांतिकुमार जैन

'23 लेखिकाएँ और राजेन्द्र यादव' पुस्तक का शीर्षक देखकर मैं सच ही कहूँगा, मुझे किंचित निराशा हुई। कहाँ राजेन्द्र यादव जैसा सम्पादकोत्तम, विमर्शवीर, विवादलोलुप, लेखिका लिप्सु रूपरस चट्टा व्यक्ति और कहाँ उससे बतियाने, रसियाने, गरियाने के लिए मात्र 23 लेखिकाएँ। कहाँ गए वे दिन जब एक ब्रजभूषण, ललित पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण यादव को सोलह हजार गोपिकाएँ घेरे रहती थीं? पर याद आया कि वह द्वापर की बात थी और यह कुटिल कृतघ्न कलियुग है। एक लेखक-सम्पादक विमर्शकार के व्यक्तित्व और कृतित्व पर इतना खुलकर, खिलकर और इज्जत पर खेलकर लिखने के लिए 23 लेखिकाएँ भी तत्पर हो जाएँ, यह कम नहीं है। कई पुरुष पुंगव तो बेचारे सारी जिन्दगी किसी एक की तलाश में ही भटकते रहते हैं। राजेन्द्र यादव मित्रों की कम्पनी में बेहद प्रफुल्लता का अनुभव करते हैं पर यदि वह कम्पनी मित्राणियों की हो तो क्या कहने? उन पर इस पुस्तक में प्रस्तुत 23 लेखिकाओं में से कई ने आरोप लगाया है कि राजेन्द्र यादव ने एक संपादक के रूप में जितनी लेखिकाएँ प्रदान की हैं, उतनी किसी अन्य ने नहीं। उनका 'हंस' लेखिकाओं का ऐसा कारखाना है जिसमें ढलकर-गलकर एक से बढ़कर एक उत्पाद सामने आते हैं। राजेन्द्र यादव इस कथन की व्यंजना से परिचित हैं। इसीलिए वे असीमा भट्ट के इस कथन को कि ''आपके बारे में यह कहा जाता है कि आपने महिला साहित्यकारों को बहुत बढ़ावा दिया उन्हें लिखने के लिए उकसाया लेकिन पुरुष लेखकों को कभी बढ़ावा नहीं दिया।'' थोड़ा बरकाते हुए कहते हैं कि ''महिला साहित्यकार कबूल करती हैं। पुरुष नहीं करते।'' राजेन्द्र जी का यह वक्तव्य निश्चय ही एकांगी है। यदि वे पुरुष लेखकों को बढ़ावा देते तो यह असम्भव नहीं कि उन पर कोई सिरफिरा 'गे' होने का आरोप लगा देता। वास्तव में हमारी मानसिकता ही ऐसी है कि स्त्री-पुरुष के सामान्य सम्बन्धों को लेकर हममें एक ग्रन्थि बनी हुई है। 'हँसी कि फँसी' वाली ग्रन्थि। हमें बचपन से सिखाया जाता है कि अनुज वधू, भगिनी, सुतनारी और कन्या पर कुदृष्टि नहीं डालनी चाहिए। पर शेष पर आप जो भी दृष्टि डालेंगे, वह

कुदृष्टि ही होगी यदि इनका काला चश्मा पहिने हुए हैं तो और भी। राजेन्द्र यादव को इस तरह की मिस्कोटों में रस मिलता है और वे उन्हें बढ़ावा भी देते हैं।

इस पुस्तक की अनेक लेखिकाओं ने यह बताना चाहा है कि राजेन्द्र यादव स्त्री देह का कोना-कोना फांक आए हैं। राजेन्द्र यादव जब लेखिकाओं से बात करते है तो वे इन लेखिकाओं को उनकी सोच, समझ और संस्कारों के अनुसार स्त्री और पुरुष के अंतरंग सम्बन्धों पर खुलकर बात करने के लिए उकसाते हैं। 'पुरुषों' को कुँवारी पत्नी से शादी नहीं करनी चाहिए। विवाहेतर सम्बन्ध आपकी नजर में जायज है या नाजायज? सेक्स क्या है? संभोग में स्त्री को ज्यादा आनन्द मिलता है या पुरुष को जैसे प्रश्न किसी मनोविज्ञानवेत्ता या डॉ. से या वात्स्यायन जैसे कामाधिकारी से पूछे जाने चाहिए पर राजेन्द्र यादव स्त्री तक को उसकी देह, उसके मनोविज्ञान पर लाजान्वित करने का कोई अवसर नहीं चूकते। वास्तव में राजेन्द्र यादव के व्यक्तित्व में एक प्रकार की 'हरामजदगी' 'लफंगई' और 'खिलंदड़ापन' है जो उन्हें स्वयं को सर्वज्ञ मानने को बाध्य करता है। इस प्रकार के लोगों के लिए बुंदेलखंडी में एक शब्द ऐबी हैं। राजेन्द्र यादव जन्मजात ऐबी हैं और वे स्वयं को ऐबी कहे जाने का बुरा नहीं मानते अपितु प्रसन्न ही होते हैं। ऐबी होना असाधारण होना है, असामान्य होना है, विशिष्ट होना है, साहसी होना है, जहाँ न जाए सुई, वहाँ मूसल डालने वाला होना है। अतः राजेन्द्र यादव चाहते हैं कि लोग, खासकर स्त्रियाँ उन्हें ऐबी कहें क्योंकि ऐबी कहा जाना उनसे कई तरह की छूट लेने का अधिकार पाना है।

पुस्तक में जिन 23 लेखिकाओं ने राजेन्द्र यादव के व्यक्तित्व, कृतित्व और पुरुषत्व की सोनोग्रीफी की है उनमें उनकी पत्नी, पुत्री, प्राध्यापिकाएँ, सहकर्मी, पत्रकार और चौपालिए हैं। सबके विचारों पर अलग-अलग टिप्पणी करना सम्भव नहीं है। मन्नू भण्डारी और राजेन्द्र यादव के सम्बन्धों पर इतना कुछ कहा और शोर मचाया जा चुका है कि उस पर संक्षेप में कुछ कहने से बात कुछ उलझेगी ही। दोनों के व्यक्तित्व इतने अलग-अलग हैं कि उनका पति-पत्नी के रूप में साथ रहना सम्भव ही नहीं था। राजेन्द्र यादव परम बोहेमियन और मन्नू बाईसा परम संस्कारबद्ध। केर बेर को संगा, दो कंबलों में गाँठ नहीं बँधती, यह तो ठीक है पर कँबल और जयपुरी रेशमी रजाई में भी साँठ नहीं बँधती।

राजेन्द्र यादव के व्यक्तित्व की संरचना लेखन की दुर्दम्य प्रेरणा और सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्क्रिया का जितना और जैसा विश्लेषण प्रभा खेतान ने 'सबसे बड़ा अपराधी' शीर्षक अपने शल्य चिकित्सात्मक आलेख में किया है वह रोचक, उत्तेजक और समावेशी है। प्रभा जी राजेन्द्र यादव के व्यक्तित्व, कृतित्व और अस्तित्व के पीछे बचपन में घटित उस दुर्घटना को मानती हैं जिसने निषेध को, चुनौती को, स्वयं को स्थापित करने की दुर्निवार ग्रन्थि को उनके सारे क्रियाकलाप का स्प्रिंग बोर्ड बना दिया है। प्रभा जी स्वयं ज्यां पॉल सार्त्र की अनुसंधाता हैं। उन्होंने सिमोन द बोउवा के शब्द-शब्द का मंथन किया है। वे मन्नू भण्डारी के इस कथन से प्रभावित हैं कि 'विदेशी लेखकों की जीवनियाँ पढ़-पढ़कर यह धारणा उनके (रा.या.) मन में बड़े गहरे तक बैठ गई है कि दुहरी जिन्दगी महान लेखक बनने की अनिवार्य शर्त है।' वास्तव में राजेन्द्र यादव के सम्पूर्ण अस्तित्व की उत्प्रेरक ग्रन्थि है दुर्निवार दुर्दमित दुरवस्था (कम्पल्सिव आफ सेंसिव डिसऑर्डर)। प्रभा खेतान ने अपने विवेचन में इस ग्रन्थि का इस रूप में उल्लेख तो नहीं किया है पर इधर यूरोपीय साहित्यकारों के जीवन और उनके कथा-पात्रों का जो विश्लेषण किया गया है उसमें इस सी.ओ.डी. ग्रन्थि की व्यापकता और दुर्दमनीयता का खुलकर बखान है। इसी ग्रन्थि ने राजेन्द्र यादव को एक अराजक, गैर जिम्मेदार, सामान्य चीजों से इतर दिखने की, लफंगई और हरामजदगी से भरा जीवन जीने की राह पर ढकेला। प्रभा खेतान के निष्कर्ष सही हैं पर उनके प्रमेय यदि गलत नहीं तो आधे-अधूरे तो हैं ही। उनके इस लम्बे आलेख के 'रहा होता' शायद 'चिन्ता घेरती होगी' 'पूछते होंगे' जैसी हेतुहेतु मद् भूतीय अभिव्यक्तियाँ इतनी बार प्रयुक्त हुई हैं कि 'कामायनी' की वह पंक्ति याद आने लगती है 'बन जाते सिद्धान्त प्रथम फिर पुष्टि प्रश्न करती है।' इसी आलेख में प्रभा खेतान का यह निष्कर्ष कि 'राजेन्द्र यादव का स्त्री समर्थन मुझे बहुधा थोड़ा ओढ़ा प्रश्न लगता है' चकित करता है। प्रभा जी राजेन्द्र यादव के स्त्री विमर्श को 'ट्रामा' का अवश्यंभावी परिणाम मानती हैं। तो 'ट्रामा' से हममें से कौन मुक्त है पर सब तो राजेन्द्र यादव नहीं बन जाते। प्रभा खेतान के विवेचन में कई संधियाँ हैं। इन संन्धियों को भरने के लिए राजेन्द्र यादव की सम्पूर्ण सांगोपांग जीवनी लिखनी पड़ेगी पर इसके लिए जीवनीकार को कथा विवेचन, मनोविज्ञानवेत्ता, देह खोजी और समाजशास्त्री होना पड़ेगा सब एक साथ।

राजेन्द्र यादव ने अपनी सम्पादन युक्ति से 'हंस' को अपने समय की सर्वाधिक पठित एवं चर्चित पत्रिका बना दिया है। कोई चाहे तो उन्हें राजेन्द्र के स्थान पर हंसेन्द्र भी कह सकता है। हंस के विशेषांकों ने सामान्य पाठकों के साथ बौद्धिकों को भी चिंतन की जितनी सामग्री दी है, उतनी कम ही ने दी होगी। अपने अकेले दम पर 'हंस' ने स्त्री और दलित विमर्श को हिन्दी समाज की केन्द्रीय चिन्ता बना दिया है। 'हंस' में वे भी छपना चाहते हैं जो राजेन्द्र यादव का विरोध करते हैं। इस प्रभावशीलता का रहस्य क्या है, यह जानना हो तो इसी पुस्तक में संकलित साधना अग्रवाल की राजेन्द्र यादव से बातचीत पढ़नी चाहिए। राजेन्द्र यादव स्वीकार करते हैं कि हाशियों पर बहती धारा को मेनस्ट्रीम बना देने का काम जिन थोड़ी-सी पत्रिकाओं ने किया है, उनमें 'हंस' शायद सबसे प्रमुख है। यह 'हंस' का ही प्रताप है कि आज स्त्री और दलित की बात किए बिना कोई साहित्यिक चर्चा पूरी नहीं होती। राजेन्द्र यादव के सम्पादन की विशेषता है कि वे किसी भी पत्रिका को अपने समय की लिखी जा रही रचनाओं का संकलन भर बनाने के पक्ष में नहीं हैं। वे चाहते हैं कि पत्रिका रचनाकारों को दिशा निर्देश दे, अपने समय के प्रश्नों से जूझने के लिए भी उकसाए। इसी बातचीत में हंसेन्द्र ने इस बात का खुलासा भी किया है कि उन पर प्रायः लगाया जाने वाला आरोप कि वे पसंदीदा खूबसूरत लेखिकाओं को बिना पूर्व घोषणा के भी छाप देते हैं।' इस आरोप की राजेन्द्र जी ने बड़ी लम्बी सफाई दी है सोदाहरण। इस लम्बी सफाई की आवश्यकता नहीं थी। जब प्रेमचन्द ने हंस में उषादेवी मित्रा को छापा तो उन पर भी ऐसे ही आरोप लगाए गए थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मिर्जापुर निवासिनी महिलाओं का अपने इतिहास में उल्लेख क्या

किया, वे भी कुछ आखेटकों की जद में आने से नहीं बचे। फिर राजेन्द्र यादव यदि गीतांजलि श्री, जया जादवानी को छापते हैं तो मैत्रेयी पुष्पा को भी तो छापते हैं।

राजेन्द्र यादव का यह कथन हिन्दी के सभी सम्पादकों को अपनी मेज पर मोटो की तरह रख लेना चाहिए कि 'व्यक्तिगत लिहजों से पत्रिकाएँ मर जाती हैं।' इसी बातचीत में राजेन्द्र यादव ने कविता सम्बन्धी अपने विचार भी व्यक्त किए हैं। राजेन्द्र यादव स्वयं को कविता का विरोधी नहीं मानते क्योंकि 'मुझे एक से एक अच्छी कविताएँ याद हैं।' साधना अग्रवाल को शायद यह पता नहीं कि राजेन्द्र यादव कभी प्रेम कविताएँ भी लिखते थे। वे संकलनों में प्रकाशित भी हैं। पर शीघ्र ही उन्होंने समझ लिया कि कविता में उनका कोई भविष्य नहीं है। इसी बातचीत में राजेन्द्र यादव ने नमावर सिंह, अशोक वाजपेयी जैसे समकालीनों पर कुछ सख्त टिप्पणियाँ की हैं। 'कोई सैद्धान्तिक काम, आलोचना का काम, कोई गम्भीर काम तो उन्होंने किया नहीं है।' दिल्ली की साहित्यिक राजनीति को समझने के लिए यह बातचीत काफी काम की है।

जब भी 'हंस' की सम्पादन नीति की चर्चा होगी, साधना अग्रवाल के साथ अर्चना वर्मा, बीना उनियाल और कविता के वक्तव्य बहुत काम के सिद्ध होंगे। अभी 'हंस' पत्रिका के और उसकी सम्पादन नीति पर कोई स्वतन्त्र अध्ययन विश्वविद्यालयों में हुआ है या नहीं, मुझे पता नहीं। जब भी होगा तो हंस के सम्पादन के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पक्षों पर इन लेखिकाओं का सन्दर्भ दिए बिना बात करना सम्भव नहीं होगा।

जिन 23 लेखिकाओं की बातचीत, वक्तव्य या संस्मरण इस पुस्तक में संकलित हैं, उनमें सबसे अधिक बड़बोलापन मैत्रेयी पुष्पा के 'हम न मरहिं मरिहैं संसारा' और 'अंतर भीगी आत्मा' में है। यह बात जगजाहिर है कि मैत्रेयी पुष्पा राजेन्द्र यादव की ही फाइंड है। उन्होंने ही उन्हें तराशकर, संवारकर यहाँ तक पहुँचाया है। मैत्रेयी जब भी अपने 'गढ़िया' या 'जड़िया' पर लिखती हैं तो केन्द्र में स्वयं को रखना नहीं भूलतीं। एक तरह से वे स्वयं को राजेन्द्र यादव के सम्पादन की आइटम लेखिका बनाकर प्रस्तुत करती हैं। बात को वायवीय बना देने में, उसे सैद्धान्तिक कुहासे

से ढँक देने में वे पारंगत हैं। किन्तु वे उस फ्रांसीसी भाषाविद् का कथन भूल जाती हैं जिसने कहा था कि मनुष्य ने भाषा का आविष्कार झूठ बोलने के लिए किया है। वे राजेन्द्र यादव के बारे में जब भी बात करती हैं तो इतनी विह्वलता से कि पूर्वापर वक्तव्यों में कोई सामंजस्य नहीं रहता। कहीं मैत्रेयी के पति राजेन्द्र यादव के ऑपरेशन थियेटर में भरती होने पर अपनी पत्नी से जिज्ञासा करते हैं 'क्या बुड्ढा अस्पताल में तुम्हें बुला रहा है' या राजेन्द्र यादव का रक्षाबन्धन के दिन मैत्रेयी से कहना 'डॉक्टरनी, राखी ले आओ। हम राखी बँधवाने आए हैं क्योंकि और कुछ तो तुम्हारे बस का नहीं।' इन कथनों में 'भी' और 'तो' जैसे जो निपात हैं वे कहनी में छिपी अनकहनी का भेद खोल देते हैं। फिर पुष्पा दम्पति परस्पर जिस तरह के फिल्मी डायलॉग बोलता है 'मैं तुम्हारी मोहब्बत जानम, तू मेरी मोहब्बत।' जो भी कमी रह जाती है वह 'ओह रे, ताल मिले नदी के जल से, नदी मिले सागर में, सागर मिले कौन से जल में कोई जाने ना' जैसे गीतों से पूरी हो जाती है। लगता है मैत्रेयी जब ये संस्मरण/मंतव्य लिख रही थीं तब किसी अदृश्य शक्ति ने उनके हाथ में फिल्मी डायलॉग लेखक कादर खान की कलम पकड़ा दी थी। मैत्रेयी पुष्पा का वक्तव्य तिरिया चरित्तर को भले पूरी तरह न खोलता हो पर अपने समकालीनों के लेखिका चरित्तर की आहट तो देता ही है। ये स्त्रियाँ एक-दूसरे के बारे में क्या कहती-बतियाती हैं, इसे जानना-समझना काफी रोचक है। जब सामान्य पाठक इसमें डूब सकता है तो राजेन्द्र यादव की तो इसमें समाधि ही लग जाएगी क्योंकि इस चरित्तर के प्रस्थान और गंतव्य वे ही हैं। कभी-कभी मेरा मन होता है कि मैं राजीव खंडेलवाल को यह सुझाव दूँ कि वे 'सच का सामना' की हॉट सीट पर मैत्रेयी पुष्पा को आमंत्रित करें और उनका पॉलीग्राफ टेस्ट करवाएँ।

मैत्रेयी यदि सच हैं तो वे एक करोड़ का चैक अपने पर्स में डालकर घर लौटेंगी, यदि वे झूठ हैं तो हिन्दी में मैत्रेयी और राजेन्द्र यादव के सम्बन्धों को लेकर जो घटाटोप है, वह हमेशा हमेशा के लिए छँट जाएगा। मैत्रेयी जी को मेरे प्रस्ताव पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मैत्रेयी पुष्पा ने कहीं लिखा है कि पुरुषों को बुद्धिमती स्त्रियों की तुलना में रूपवती स्त्रियाँ ज्यादा पसन्द आती हैं। इसका निहितार्थ यह है कि राजेन्द्र यादव को मैत्रेयी पुष्पा इसलिए पसन्द हैं क्योंकि वे रूपमती हैं पर मेरा अपना अवलोकन यह है कि राजेन्द्र यादव को न रूपमती स्त्रियाँ पसन्द आती हैं, न बुद्धिमती। उन्हें तो संभावनाशील स्त्रियाँ पसन्द आती हैं जो महत्त्वाकांक्षिणी हों, जिनकी लज्जा का हरण कर वे उन्हें निष्कुंठ बना सकें और उनसे स्त्री देह, सेक्स, संभोग आदि के विमर्श पर 'रिलेक्स्ड' अनुभव कर सकें। जो बैल को सींग मारने के लिए जितना ही उकसा सके वह इस महाबैल के उतने ही निकट है।

'23 लेखिकाएँ और राजेन्द्र यादव' का संयोजन और सम्पादन गीताश्री ने बड़ी सुरुचि और सूझबूझ से किया है। राजेन्द्र यादव को जानने और समझने के लिए यह पुस्तक अनिवार्य है। वास्तव में जो विचारक और रचनाकार जितना संश्लिष्ट और विविध आयामी होगा, उसको किसी एक कोण से देखपरख कर संपूर्णतया समझा भी नहीं जा सकता। अभी कुछ ही अर्सा पहले साधना अग्रवाल ने राजेन्द्र यादव को एक खलनायक की तरह देखा था। देखने की एक दृष्टि वह भी थी। हर किसी चीज का निषेध करने की जिद करने वाले विचारक के मूल्यांकन का उपक्रम। गीताश्री राजेन्द्र यादव को स्त्री की आँखों से देखने की चेष्टा कर रही हैं। दलित उन्हें किस रूप में देखते हैं, यह भी किसी विमर्श का विषय हो सकता है। वास्तव में राजेन्द्र यादव पर अभी अन्तिम रूप से कुछ कहने का समय नहीं आया है। शायद उन जैसे विवादास्पद और भंजक विचारक पर अन्तिम रूप से कभी भी कुछ नहीं कहा जा सकता। जो कलाकार या कलाकृति जितनी दुर्लभ और दुरूह होगी, उसको उतनी ही बार नीलाम घर में आना

पड़ेगा। कोई कितना कह ले एक लाख, एक लाख दो, एक लाख तीन पर शीघ्र ही उस पर नए सिरे से बोली लगाने वाले सामने आ ही जाएँगे। गीताश्री की यह पुस्तक राजेन्द्र यादव एक, राजेन्द्र यादव दो, राजेन्द्र यादव तीन कहने का दावा करती भी नहीं। अनन्य कलाकृति की तरह अपर्याप्त कलाकार के अन्तिम मूल्यांकन के लिए काल का अन्तराल आवश्यक है। यह अन्तराल कितना होगा और कब मिटेगा यह अभी नहीं कहा जा सकता पर तब तक किसी को भी राजेन्द्र यादव तीन कहकर उन्हें समेटकर अपने साथ ले जाने का अधिकार नहीं है।

'23 लेखिकाएँ और राजेन्द्र यादव' को छपे साल भर होने को आया। पुस्तक के बर्ल्व में कहा गया है, कि यह अपने दौर की अनुपम पुस्तक है। शायद किसी भी भारतीय भाषा में अकेली। हिन्दी के अन्य सम्पादकों और लेखकों ने स्वयं पर ऐसी किसी पुस्तक के संयोजन/संपादन का मन क्यों नहीं बनाया? शायद वे राजेन्द्र यादव की तरह अपने प्रेम प्रसंग, अपना सेक्स जीवन, अपनी ले दे आदि की खुली बातें न कर सकते हैं। न करवा सकते हैं। ऐसा होता तो उनकी सम्मानीयता, उनकी गरिमा खंडित होगी। इसीलिए हिन्दी के लेखक, सम्पादक, अध्यापक 23 लेखिकाएँ जैसी किसी पुस्तक से गुरेज करना ही समझदारी समझते हैं। '23 लेखिकाएँ और राजेन्द्र यादव' जैसी पुस्तक की प्रेरणा देने के लिए आपका विवाद लंपट और फर्रुखाबादी होना अनिवार्य है। जो हर कोई नहीं हो सकता।

गीताश्री से मुझे एक ही शिकायत है। बहुत से हिन्दी के 'बेचारे' कोटि के पाठकों को पुस्तक में आने वाले जी प्वाइंट (या 'जी-स्पॉट' मनोहर श्याम जोशी, सम्पादक) ट्रामा डाई फंक्शनल जैसे शब्दों को हृदयंगम करना कठिन होगा। क्या उनकी सुविधा के लिए अगले संस्करण में परिशिष्ट में इनका अर्थ नहीं दिया जा सकता।

---

23 लेखिकाएँ और राजेन्द्र यादव/ सं. गीताश्री/ किताबघर प्रकाशन, 23 दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य :

5, विद्यापुरम, मकरोनिया कैम्प, सागर (म.प्र.) 470004, दूरभाष : 07582-262354

संस्मरण

स्वीकार्य और विश्वसनीय छवियाँ

मधुरेश

अजित कुमार क्यों और कैसे बच्चन पर अधिकृत रूप से लिखने के पात्र हैं? एक सुदीर्घ काल-खण्ड में इसे उन्होंने अनेक बार अनेक रूपों में प्रमाणित किया है। बच्चन और उनके परिवार से अजित कुमार का सम्बन्ध उनके विद्यार्थी काल से है जब बच्चन इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में अध्यापक थे। गुरु-शिष्य का यह सम्बन्ध ही वस्तुतः उनके प्रगाढ़ पारिवारिक सम्बन्धों की नींव था जिसे दोनों के दिल्ली प्रवास ने और पुष्ट किया। आगे चलकर अजित कुमार ने न सिर्फ बच्चन रचनावली का सम्पादन किया, उसके पूर्व 'बच्चन निकट से' जैसी संस्मरणात्मक कृति भी उन्होंने प्रस्तुत की। नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया द्वारा प्रकाशित बच्चन की आत्मकथा का सम्पादन और संक्षेपीकरण उन्होंने किया अपनी सुविचारित भूमिका के साथ।

इसी क्रम में अपनी नई पुस्तक 'कविवर बच्चन के साथ' की पृष्ठभूमि का खुलासा करते हुए अजित कुमार ने सूचना दी है कि यह बच्चन के साथ विदेश मन्त्रालय में बिताए और अनायास उपलब्ध सन्निकटता के बीच लिखी गई उन टीपों का संकलन है जो उन्होंने अपनी डायरी में जनवरी सन् 1960 से अक्टूबर 1962 के बीच दर्ज की थी। लेखक की सूचनानुसार इसकी शुरुआत तब हुई जब उनकी मातृस्थानीया श्रीमती बच्चन ने उन्हें यह दायित्व सौंपा कि बच्चन को दफ्तर में चपरासी के सहारे न छोड़कर वे स्वयं उनके लंच की देखभाल करें। इस दायित्व को सम्पन्न करने की प्रक्रिया में जो व्यवस्थित और नियमित, नोट्स-अंकन उन्होंने लिए, उन्हीं का संकलन यह पुस्तक है। सन् 1962 में ही जब अजित कुमार ने अपने ये नोट्स उन्हें सौंपे, उसी वर्ष किरोड़ीमल कॉलेज में अपनी शिक्षा समाप्त करके अमिताभ बच्चन ने यह सूचना भी उन्हें दी डैड ने आत्मकथा लिखनी शुरू की है। शुरू में बच्चन ने इन टीपों को प्रकाशन योग्य नहीं समझा था, लेकिन अपनी आत्मकथा के सभी खंड छप जाने के बाद उन्होंने इनके प्रकाशन की प्रसन्न अनुभूति लेखक को दी थी। यह सूचना भी अजित कुमार ने दी है कि तेजी बच्चन ने, जिन्हें इस प्रसंग में पुनः उन्होंने 'श्रद्धेय माँ' जैसे विशेषण के साथ उनके नाम का उल्लेख किया है, इस पर सहमति और स्वीकृति की अपनी मुहर लगाई थी।

इस पृष्ठभूमि में किसी को भी लग सकता है कि कविवर बच्चन के सम्बन्ध में अजित

कुमार की इन टीपों की प्रकृति एकांगी और सराहनापूर्ण होगी। लेकिन 'कविवर बच्चन के साथ' की मुख्य और काफी कुछ विस्मित करने वाली विशेषता यही है कि वह बहुत वस्तुपरक रूप में लिखी गई है। विश्वसनीय और प्रामाणिक होने में ही इन टीपों का महत्त्व है।

बच्चन के विचारों और दृष्टि में अजित कुमार कैसे हस्तक्षेप करते हैं, इसके एक-दो उदहारण देखे जा सकते हैं। बच्चन ने पंतजी पर अपनी पुस्तक 'कवियों में सौम्य संत' छपने पर अजित कुमार को दी छापे की अशुद्धियों को ठीक करने के लिए, ताकि अगले संस्करण में उन्हें बचाया जा सके और सम्भव होने पर इस वर्तमान संस्मरण में भी एक शुद्धि-पत्र जोड़ा जा सके। स्वाभाविक था कि बच्चन पुस्तक पर उनकी प्रतिक्रिया भी पूछते। अपनी प्रतिक्रिया देते हुए अजित कुमार ने कहा, 'अच्छी होने में क्या कोई शक है! हिन्दी में पंतजी पर ऐसी दूसरी पुस्तक तो निकली नहीं। लेकिन यह जरूर है कि समय-समय पर लिखे गए स्फुट निबन्धों का संग्रह होने के कारण अनेक बातों की पुनरावृत्ति हो गई है। स्वतन्त्र रूप से विविध अवसरों पर लिखे गए उन निबन्धों में ऐसा होना स्वाभाविक ही था, लेकिन पुस्तक में संग्रहित होने पर वे कुछ अटपटे लगते हैं और पाठक के मन में पंतजी के काव्य के प्रति किसी समन्वित दृष्टिकोण की छाप नहीं छोड़ते (पृ. 43) इस दृष्टि से पुस्तक उन्हें पर्याप्त एकांगी और अधूरी-सी लगी थी जो पंत-काव्य के किन्हीं विशेष पक्षों के उद्घाटन में सहायक होने पर भी उस काव्य का एक सम्यक् एवं सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत कर पाने में विफल है।

एक अन्य प्रसंग अभय कुमार यौधेय नामक किसी लेखक द्वारा बच्चन और उनके परिवार पर लिखे जाने वाले उपन्यास का है जिसकी भूमिका जीवन प्रकाश जोशी ने लिखी थी। उस पर अजित कुमार की तीखी टिप्पणियों के बीच जीवन प्रकाश जोशी से की जाने वाली बहस किसी को भी विस्मित कर सकती है। ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण कलकत्ता निवासी चन्द्रदेव सिंह का बच्चन पर अपनी पुस्तक के प्रसंग में एक लम्बा साक्षात्कार लेने दिल्ली आने का है। बच्चन, पर्याप्त महत्वाकांक्षी थे। अपने प्रसंग में वे वॉसवेल की 'लाइफ ऑफ जानसन' का उल्लेख ही नहीं करते, अजितकुमार को उसे देने को अपनी लाइब्रेरी में उसे ढूँढते हुए हलकान भी होते हैं। उन्हें लगता था कि शायद अजित कुमार उन पर जीवनी जैसा कुछ लिखें। एक भावी आधिकारिक जीवनीकार के रूप में वे वस्तुतः अजित कुमार को वॉसवेल का मॉडल देना चाहते थे।

अपने जिन वरिष्ठों एवं समकालीनों पर बच्चन की टिप्पणियाँ हैं उनमें अमरनाथ झा, सुमित्रा नन्दन पंत, यशपाल, धर्मवीर भारती आदि का उल्लेख खासतौर से किया जाता है। इन टिप्पणियों में, सारे आत्मीय और कृतज्ञ सम्बन्धों के बावजूद, एक खास तरह का अनौपचारिक खुलापन है। जो इन्हें रोचक और स्वीकार्य बताता है। झा साहब के बारे में उनकी टिप्पणी है, 'परिवार तो था नहीं झा साहब का। बस अकेले रहते थे। लाइब्रेरी ही उनका ड्राइंगरूम थी। वहीं वे लोगों से मिलते थे। बड़ी-सी मेज लगाकर ऊँची कुर्सी पर बैठते थे। कमरे की अन्य कुर्सियों से उनकी कुर्सी ऊँची होती थी और पीछे से काफी मेहराबनुमा बनी हुई भी। उस कुर्सी पर बैठे मुँह में सिगार दबाए, गोल आवाज में बोलते हुए झा साहब के इर्द-गिर्द एक तरह का प्रभा मण्डल स्वतः बन जाता था। कमरे की सारी कुर्सियाँ उनकी कुर्सी से छोटी होने के कारण उनसे मिलने आने वाले मानो अपने आप ही उनसे कुछ छोटे हो जाते थे। सभापति की कुर्सी तो उनकी थी, बाकी सब उनके मुसाहिब होते थे'...(पृ. 31) झा साहब खूब बने हुए जीव थे। ठसके का उत्तर ठसके से देने में विश्वास करते थे। ऐसा कोई ठसके वाला व्यक्ति मिलने आता था तो बरामदे में पन्द्रह मिनट उससे इन्तजार करवाते थे। जब वे किसी को निकटता का आभास देना या 'फेवर' करना चाहते, हिन्दी बोलते थे। वैसे वे अंग्रेजी ही बोलते थे और कोई व्यक्ति यदि उनकी अँग्रेजी का उत्तर हिन्दी में देता तो उन्हें अच्छा नहीं लगता था उन्हें लगता कि जैसे वह व्यक्ति छूट ले रहा है। बच्चन यह भी कहने में संकोच नहीं बरतते कि झा साहब में कोई विशेष प्रतिभा या मौलिकता नहीं थी। उन्होंने शेक्सपियर पर बस थोड़ा-सा साधारण काम किया और कुछ निबन्ध लिखे।...पुराने कवियों में तुलसीदास और शेक्सपियर बच्चन को विशेष प्रिय थे। दोनों का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि अपना रहस्य वे धीरे-धीरे खोलते हैं। उनका वैभव धीरे-धीरे खुलता और सामने आता है।

बच्चन की रचना-प्रक्रिया के प्रसंग में, पेंसिल से रूलदार फुलस्केप कागज पर खूब काट-छाँट वाली उनकी आदत पर टिप्पणी करते हुए अजित कुमार लिखते हैं, 'पहले ड्राफ्ट में, मार्जिन पर वे किन्हीं विशेष प्रयोगों अथवा शब्दों पर अपनी टिप्पणियाँ लिखते हैं और क्रमशः यह प्रवृत्ति बढ़ती गई है। इससे जो बातें सर्वाधिक प्रमाणित होती हैं, वे यह कि बच्चन जी अपनी कविता में शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में अत्यन्त सतर्क होते जाते हैं और रचना के एकाधिक अर्थों का ध्यान रखते हैं।...(पृ. 55/56) बच्चन बेढब प्रचारक थे। मौका मिलने पर वे अपनी बात अवश्य जमाते थे। लोकधुनों पर आधारित अपने गीतों की चर्चा वे उत्साहपूर्वक करते थे और इसे हिन्दी कविता में रागतत्व की पुनर्स्थापना के रूप में लिए जाने पर जोर देते थे।

अपने इन अंकनों के प्रसंग में अजित कुमार प्रायः ही बच्चन की प्रतिक्रिया का उल्लेख करते हैं। इनमें लेखक द्वारा प्रयुक्त किन्हीं शब्दों, उनके अभिप्राय या व्यंजना के बदल देने के उनके सुझाव का जिक्र भी वे करते हैं। ऐसे ही कुछ प्रसंगों को, प्रकाशन योग्य न मानकर वे निकालने का सुझाव भी देते थे। लेकिन अजित कुमार कभी समय के अन्तराल और कभी व्यंजना के तर्क के नाते अपने उस लिखे को यथावत् रहने देते हैं जैसा वह मूल में था। अमित के बी.एस.सी. में चार नम्बर से फेल होने पर अपने प्रसंग में वे बाबा की कल्पित-अनुमानित प्रतिक्रिया सुनाकर फिर बाद में उसे निकालने का सुझाव भी देते हैं। लेकिन अजित कुमार उसे वैसा ही रहने देते हैं।...ये कुछ उदाहरण अजित कुमार की लेखकीय निष्ठा को तो स्पष्ट करते ही हैं, बच्चन की भी स्वीकार्य और विश्वसनीय छवि बनाते हैं। वैसे भी दुर्भाव से मुक्त और अपने शब्दों के प्रति ईमानदार लेखक ही ऐसा कर सकता है।

कविवर बच्चन के साथ/ अजित कुमार/ भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/ मूल्य 250.00 रु.

372, छोटी बमनपुरी, बरेली-243003
फोन 0581-2554670

फिराक की 'गोरखपुरी' खोज

श्रीप्रकाश शुक्ल

फिराक उर्दू साहित्य की दुनिया के अनमोल रत्न हैं। उर्दू के कई अन्य बड़े रचनाकारों की तरह उनकी शायरी भी हमारी साझा संस्कृति का हिस्सा बन चुकी है। उनका रचनाकर्म बीसवीं सदी के दूसरे दशक से लेकर आठवें दशक तक फैला है। उर्दू शायरी में वे अपनी ग़ज़ल के नर्म व धीमे लहजे के कारण प्रशंसित हैं। यह उन्हें मीर के रास्ते चलकर मिला और वे इश्क की जिन अनुभूतियों व बदलती अवस्थाओं को अपनी कविता का विषय बना रहे थे, उसके लिए ग़ज़ल का यही रास्ता बचा भी था। यहीं से 'फ़िराकियत' भी पैदा होती है। मुहम्मद हसन अस्करी ने फिराक की प्रेमी प्रेमिका के व्यवहारों को नजर में रखकर ठीक लिखा है कि 'फिराक ने उर्दू शाइरी का दाइरा-ए-शार (चिंतन फलक) हैरतनाक तौर पर विस्तृत कर दिया है और नफसियाते-इश्क (प्रेम मनोवृत्ति) को पूरी जिन्दगी व पूरी इन्सानी शख्सियत की नफसियात बना दिया है' (बीसवीं शताब्दी में उर्दू साहित्य गोपीचन्द नारंग (सं.) में संकलित अनीस अशफाक के आलेख से)। 'यह वह दौर था जब हिन्दी में छायावादी चेतना अपने उन्मेष पर थी और उर्दू में इकबाल व हसरत मोहानी जैसे शाइर शेरो-अदब की एक नई दुनिया रच रहे थे। तब के मंच क्लासिकी ढंग की रूमानी शाइरी से अटे पड़े थे। ठीक ऐसे समय में फिराक ने 'रिवायती शाइरी की दाखिलीयत का अन्तर्मुखता से बचाव करते हुए और सामाजिक सोद्देश्यता से रिश्ता कायम करते हुए एक ऐसा तर्जे सुखन ईजाद किया, जिसमें दृष्टि और कला के स्तर पर परम्परा व सामाजिक बोध का द्वन्द्व बजाहिर दिखाई देता है।' (जानकी प्रसाद शर्मा उर्दू साहित्य की परम्परा)

तब स्पष्ट है कि फिराक ने शायरी की रिवायत से तकरार भी की और एक नई रिवायत की बुनियाद भी डाली। उन्होंने उर्दू शायरी के समानान्तर अपने को विकसित किया और आन्तरिक वेदना से भावुकता के रास्ते वे बौद्धिकता तक पहुँचते हैं। कहा जाता है कि अपनी इसी बौद्धिकता के कारण उनकी ग़ज़लों से आवाज ही नहीं, झनझनाहट भी महसूस होती है, जहाँ उनकी आवाज में कायनात जाग उठती है।

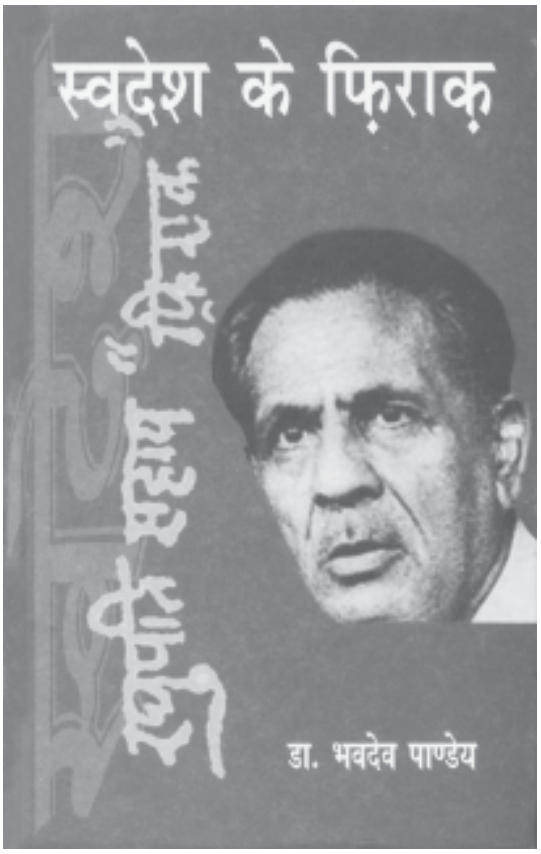

लेकिन यह सब तो 1930 के बाद की उपलब्धियाँ हैं जब वे दिल्ली होते इलाहाबाद विश्वविद्यालय पहुँचे और वहाँ के अँग्रेजी विभाग में शिक्षक नियुक्त हुए। इसके पहले 'फिराक' माने रघुपति सहाय क्या थे? रघुपति सहाय को 'फिराक' किसने बनाया? साथ ही यदि वे गोरखपुरी थे, तो फिराक में गोरखपुर के क्या तत्व समाहित हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि फिराक असल में 'गोरखपुरी' ही हैं और इलाहाबाद में होते हुए उर्दू साहित्य में जो जगह बनाई, वह उनके 'गोरखपुरी' का ही विस्तार है। इस रूप में उर्दू साहित्य में जगह बनाने के पहले वे हिन्दी साहित्य में अपनी प्रतिभा का जौहर दिखा चुके थे या कि दिखाने की इच्छा रखते थे। यह सब कुछ जरूरी सवाल है जिन पर अब तक कम लोगों ने ध्यान दिया है और फिराक की इसी हिन्दी निजता की पड़ताल करती है भवदेव पाण्डेय की यह कृति 'स्वदेश के फिराक'। यह कृति फिराक के आरम्भिक रचनात्मक व्यक्तित्व को विस्तार देती है, खासकर 1919 से 1924 के बीच की उपलब्धियों के सन्दर्भ में, फिराक गोरखपुर से निकलने वाली पत्रिका 'स्वदेश' (सं. दशरथ प्रसाद द्विवेदी) से पूरी तरह जुड़े हुए थे और जिसे बाद में फिराक साहब ने कभी याद भी नहीं किया।

इस पुस्तक में पाण्डेय ने फिराक के बारे में, 'स्वदेश' के बहाने, लिखा है कि वे मूलतः हिन्दी के रचनाकार थे और कई मायने में तत्कालीन हिन्दी रचनाकारों से बढ़कर। आरम्भ में ही लिखा है कि 'आश्चर्य तो यह है कि फिराक पर इतना अधिक लिखे जाने और स्वयं फिराक के साक्षात्कारों के बाद भी आज तक इस

रहस्य का विमोचन हुआ ही नहीं कि फिराक ने साहित्य की सदस्यता का फार्म हिन्दी में भरकर हस्ताक्षर किया था और इसकी तस्दीक की थी प्रेमचन्द ने, बतौर अभिभावक।' (पृ. 1) यह तारीख थी 15 सितम्बर 1919, जब फिराक द्वारा बायरन की कविता 'डान जुआन' के हिन्दी अनुवाद की पहली किस्त 'स्वदेश' में प्रकाशित हुई थी। यह वह समय था जब हिन्दी के कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द और आलोचना में आचार्य शुक्ल का बोलबाला था। तब उन्हें (1919) 'स्वदेश' में प्रवेश प्रेमचन्द की सिफारिश पर ही मिला था। इस दाखिले के समय रघुपति सहाय इलाहाबाद से बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण कर गोरखपुर आ गए थे और बकौल श्री पाण्डेय रघुपति सहाय बी.ए. के पास कोई मौलिक रचना नहीं थी। इस लिजाह से फिराक ने प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि बायरन के 'डान जुआन' का 'दीर्घायु नीर' नाम से अनुवाद, किया जो 'स्वदेश' पत्रिका में चार किश्तों में प्रकाशित हुआ। यहाँ पर पाण्डेय ने 'डान जुआन' और रघुपति सहाय के बीच एक अद्‌भुत साम्य तलाशा है, जिस तरफ अभी तक ध्यान नहीं दिया गया। यह साम्य फिराक की काम विषयक किंवदंतियों का स्पष्टीकरण भी करता है। रघुपति सहाय 1918 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी.ए. करने के उपरान्त गोरखपुर लौटकर अपनी पत्नी के प्रथम दर्शन करते हैं, तब उनके भीतर ऐन्द्रिक सौन्दर्योपभोग को लेकर क्षोभ व निराशा के भाव फूटते हैं। ऐसे में अपने को खोजते हुए वे बायरन के पास पहुँचे। उस बायरन तक 'जो काम वासना से डूबा है, जगह जगह भटकता है। जंग व संघर्ष का वरण करता है।' मतलब कि 'डान जुआन' रघुपति सहाय की 'मुक्ति' का पहला नायक है और यहीं से उनके भीतर आत्मविश्वास व आत्म आहुति के संकल्प जगे।

इस साम्य के बाद सवाल यह है कि इस बेचैनी की अभिव्यक्ति की दिशा क्या हो? तो ऐसे में बकौल पाण्डेय 'स्वेदश' के सम्पर्क में आते ही रघुपति सहाय की प्रतिभा की आँधी चलने लगी। यहाँ वे आजादी को उग्रतर बनाने के कारण शीघ्र ही दिख्यात हो गए। साथ ही हिन्दी के सक्रिय लेखक के रूप में 1927 तक शुमार रहे। यह श्रेय भी 'स्वदेश' को जाता है कि रघुपति सहाय से शुरू होकर 18 मार्च 1927 को इसने इन्हें 'फिराक' बना दिया। मतलब यह कि जिस फिराक पर अभी तक उर्दू वाले दावा करते रहे हैं, वे फिराक असल में हिन्दी के फिराक हैं और श्री भवदेव पाण्डेय ने यहाँ सप्रमाण बताया है कि 'फिराक' 'तखल्लुस', असल में 'स्वदेश' के द्वारा ही मिला जब इसके 'होली अंक' का सम्पादन करते हुए रामनाथ 'सुमन' ने इनकी कहानी 'राम कहानी' को प्रकाशित करते हुए इनके नाम के साथ 'फिराक' लगा दिया। यह 18 मार्च 1927 को हुआ। इसी के बाद फिराक 'स्वदेश' में ग़ज़लें व नज्में लेकर आए। 'उचटी हुई नींद', 'अन्धेरी रात', 'आधी रात' हिन्दी में उनकी कुछ ऐसी गजलें हैं जिनसे उनकी प्रतिभा का पता चलता है। यहाँ आकर श्री भवदेव पाण्डेय 'फिराक सदी की आवाज' (सं. सय्यद अमज़द हुसैन) पर तल्ख टिप्पणी करते हैं क्योंकि हुसैन साहब ने फिराक को सिर्फ उर्दू का लेखक माना है। कह सकते हैं कि इस पुस्तक को लिखते समय हुसैन साहब की यह पुस्तक, पाण्डेय के सामने रही होगी, तभी कई सन्दर्भों में उन्होंने इस पुस्तक के सम्पादकीय विवेक पर अँगुली उठाई है।

असल में 'स्वदेश के फिराक' में श्री पाण्डेय ने जिस फिराक को खोजा है, वे गोरखपुर के फिराक हैं, बरास्ते दिल्ली, इलाहाबाद जाने के पहले वाले रघुपति सहाय। यहाँ के फिराक के लिए चुनौती उर्दू भाषा नहीं, हिन्दी भाषा है जिसमें एक तरफ प्रेमचन्द हैं तो दूसरी तरफ आचार्य शुक्ल। ये तब के फिराक हैं जब पूर्वांचल में हिन्दी का डंका बज रहा था। यहाँ उनकी महत्वाकांक्षा हिन्दी, लेखकों से आगे जाने की है। यहाँ के फिराक लेखक के साथ-साथ कार्यकर्त्ता फिराक हैं जहाँ हिन्दू-मुस्लिम सद्‌भाव, राष्ट्रीय शिक्षक, स्वदेशी, असहयोग आन्दोलन के साथ किसानी व क्रान्तिकारी चेतना के भाव छिपे हैं। यहाँ के फिराक ने रूढ़ियों, आलस्यों व अन्धविश्वासों पर जमकर प्रहार किया है। जिससे जंग-ए-आजादी की चेतना को जाग्रत करने में मदद मिली। इस फिराक ने अपने गद्यलेखन व ग़ज़लों के माध्यम से न केवल राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया है बल्कि सामंतवाद से संघर्ष करते हुए साहित्य को भी नई दिशा दी है। अपनी प्रतिभा के बलबूते इन्होंने गणेश शंकर विद्यार्थी के पत्र 'प्रताप' की तरह 'स्वदेश' को भी राष्ट्रीय सम्मान का पत्र बना डाला। यहाँ के फिराक ने न केवल, अपने आन्दोलनधर्मी व्यक्तित्व के कारण लेखन की मजबूत नींव तलाशी बल्कि अपनी उर्वर कल्पना के पंख के माध्यम से दूर आसमान में उड़ने की कोशिश भी की। इस हिन्दीभाषी फिराक पर टिप्पणी करते हुए पाण्डेय ने लिखा है ''स्वदेश' में प्रवेश लेने के एक ही साल बाद बाबू रघुपति सहाय ही स्वदेश बन गए। इस तथ्य को केवल वे ही जान सकते हैं, जो रघुपति सहाय की बौद्धिक ऊर्जा और रचना-निष्ठा से परिचित हैं। उन्हें यह जानकर हैरत होगी कि बाबू रघुपति सहाय को कालचेतना की एक-एक नस की पहचान थी। उनकी उम्र का अखण्ड इतिहास तो बाबू रघुपति सहाय में केन्द्रित है, पर जब वे फिराक बन गए और ग़ज़लें व नज्में कहने लगे तो उनका वास्तविक इतिहास जगह-जगह से टूट गया है। इस इतिहास को खुद फिराक ने तो तोड़ा ही, उनके अध्येताओं ने भी तोड़ा। फिराक को झूठा मिथ बनने में मजा आने लगा' (पृ. 18) साफ है कि 'स्वदेश' के फिराक में एक संघर्ष है तो, निरंतरता भी जो आगे जाकर किंवदंतियों में बदल गई। यहाँ श्री पाण्डेय ने फिराक की जिन उपलब्धियों का जिक्र किया है पूर्व किंवदंतियों की उपलब्धियों को, उनमें उनकी साहित्यिक उपलब्धियों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण फिराक की 'सामाजिक स्वीकृतियाँ' हैं। इस गोरखपुरी दौर में फिराक अपनी सामाजिक चेतना के कारण ज्यादा ख्यात हुए जिसका परिणाम यह हुआ कि इस दौर में वे गोरखपुर के अकेले 'लोकनायक' बन गए। यहाँ, इस दौर में, उनकी नवजागरणकालीन उपलब्धियाँ साफ दिखाई देती हैं जहाँ वे शहरी जीवन जीने के बावजूद 'ग्रामीण नवजागरण' को पर्याप्त महत्त्व के साथ रेखांकित करते हैं।

फिराक के भीतर आम आदमी को समझने की जो ज़िद बनी रह गई वह उन्हें गोरखपुर से ही मिली थी क्योंकि इलाहाबाद में तो वे पाठन-पाठन व शुद्ध कामोद्दीपन में ही सिमटे रहे। भवदेव पाण्डेय लिखते हैं कि 'इलाहाबाद में उन्हें उत्तुंगता' का शौक जरूर जागा परन्तु उन्हें भीगे नयनों से खुद ही

जीवन का प्रलय प्रवाह देखना पड़ा यानी फिराक का इलाहाबादी शौक काँटा बनकर रह गया।' (पृ. 47) इसके साथ ही यह भी महत्त्वपूर्ण है कि इस दौर में फिराक को यदि किसी बाहरी स्थिति ने प्रभावित किया तो वह कोलकाता था। इसलिए 'गोरखपुरी' फिराक पूर्वी थे जबकि इलाहाबादी फिराक 'पश्चिमी'। इसी पूर्वी प्रभाव ने उन्हें नारी जागरण व स्वदेशी प्रचार से निकटता दिलाई क्योंकि बंगाल में ये दोनों स्थितियाँ ही महत्त्वपूर्ण थीं। पाण्डेय के अनुसार 'गोरखपुरी' फिराक में जिन्दगी का मजा मिलता है। जबकि इलाहाबादी फिराक में 'रंगे शायरी' का। यहाँ यह साफ हो जाता है कि 'स्वदेश' को पढ़कर यह पता चल जाता है कि 'इलाहाबादी' फिराक में वह कितना घुला-मिला है। पाण्डेय लिखते हैं कि 'अज्ञात नहीं कि इलाहाबादी फिराक की शायरी का दायरा दर-दर फैला है। उनके शेरो सुखन की इलाहाबादी धारा में 'स्वदेश' के फिराक की अन्तर्धारा भी देखनी चाहिए।' (पृ. 51) स्पष्ट है कि गोरखपुरी फिराक किसानों की दुर्दशा व साम्यवादी शायरी से चलकर इलाहाबाद पहुँचकर 'ऐन्द्रिक निर्जनता' को दूर करने वाले शायर के रूप में ख्यात हुए। इलाहाबाद ने सृजन की नई दुनिया दी, जहाँ वे 'परहेतु' से 'स्वतंत्र' हो गए, लेकिन इलाहाबादी फिराक की नई रंगीन दुनिया में 'गोरखपुरी' फिराक की सपाट दुनिया के कुछ संकेतों को आसानी से देखा जा सकता है। बकौल पाण्डेय गोरखपुर में वे आग की तरह धधके और इलाहाबाद के 'स्वदेश' को भूल गए। इस तरफ कई बार पाण्डेय ने बड़े ही क्षोभ के साथ संकेत किया है, खासकर तब जब 'इलाहाबादी' फिराक की नई रचनाएँ गोरखपुरी अनुभवों की रूपान्तरिताएँ हैं।'

इन सन्दर्भों के अलावा पुस्तक में फिराक की शुक्ल जी से तुलना के लिए जहाँ फिराक का निबन्ध 'जय पराजय' (9 अक्टूबर 1921) और शुक्ल जी का निबन्ध 'क्षात्रधर्म का सौन्दर्य' (9 अक्टूबर 1921) दिया गया है वहीं प्रेमचन्द की कहानियों से तुलना के लिए फिराक की कहानी 'संतू' व प्रेमचन्द की 'कामना-तरु' दी गई है। तुलनाओं का यह आमंत्रण पाण्डेय ने यूँ तो खुद किया है लेकिन आधार असल में स्वयं दशरथ प्रसाद द्विवेदी हैं जिन्होंने 'स्वदेश' में ही ऐसी परिपाटी

चलाई थी। अब इस पर मेरा इतना ही कहना है कि 'स्वदेश से मोहासिक्त होकर यह जरूरी नहीं कि 'स्वदेश' सम्पादक की हम हर बात मानें! इसके साथ ही पुस्तक के 'परिशिष्ट' में 'स्वदेश' में समय-समय पर प्रकाशित कुछ महत्त्वपूर्ण भाषण व लेख दिए गए हैं जिससे पाठक 'गोरखपुरी' फिराक को स्वयं ही समझ सकें।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यह पुस्तक श्रमपूर्वक 'अनुसंधान' के साथ-साथ तर्कपूर्ण विश्लेषण के साथ लिखी गई है, जिसकी भाषा चुनौतीपूर्ण है, लगभग लड़ाई के मैदान में उतरने जैसी। यहाँ फिराक को उर्दू से पहले हिन्दी का लेखक 'लेखक ही नहीं जनाब महत्वाकांक्षी लेखक, सिद्ध करने की कोशिश की गई है। यह एक आधुनिक उपलब्धि जैसा है, जहाँ फिराक पूरी तरह उर्दू के हवाले कर दिए गए हों।

यह 'गोरखपुरी' फिराक को समझने वाली पहली जरूरी किताब है। यह और बात है कि उन्हें हिन्दी का महत्त्वपूर्ण लेखक सिद्ध करने की कहीं-कहीं भावुकता भरी कोशिश की गई है जो 'उर्दू' वालों को 'उकसाती' है तो हिन्दी वालों को 'उत्तेजित' करती है। कहा जा सकता है कि फिराक की गोरखपुरी अतिशय क्रान्तिकारिता के बावजूद न उनके पास शुक्ल जी को पीछे छोड़ने वाला सौन्दर्यबोध था और न ही प्रेमचन्द को पछाड़ने वाला समझदारी भरा अचूक आत्म-विश्वास! इन दोनों ने अपने समय में सत्ता से जो दूरी बनाकर साहित्य का संघर्ष किया, वह 'धीरज' भी फिराक के पास नहीं था। स्वदेश की फाइलों में यदि फिराक को प्रेमचन्द व शुक्ल जी से बड़ा साबित करने की कवायद है, तो इसका मतलब सिर्फ इतना है कि दशरथ प्रसाद द्विवेदी को, आज के हंस सम्पादक राजेन्द्र यादव की तरह एक ऐसा पट्ठा चाहिए था जिससे वे अपने समय में महान होते हिन्दी लेखकों को थोड़ी नसीहत दे सकें और ऐसे 'पट्ठों' को थोड़ा महत्वाकांक्षी (साहित्यिक) बना सकें। लेकिन याद रखें, यह 'नसीहत' नसीहत के रूप में ही रह गई। या कि रह सकती थी। किसी 'उपलब्धि' के रूप में नहीं।

स्वदेश के फिराक/ भवदेव पाण्डेय/ वाणी प्रकाशन, 21-ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : 250.00 रु.

68, रोहित नगर, नरिया, वाराणसी-221005 (उ. प्र.) **मो. 09415890513**

विरासत : डेढ़ सौवीं जयंती पर विशेष

ब्रज की विभूति पण्डित राधाचरण गोस्वामी

रामनिरंजन परिमलेन्दु

भारतेन्दु काल के कीर्तिस्तम्भ, ब्रज विभूति पण्डित राधाचरण गोस्वामी (फाल्गुन कृष्ण 5 विक्रम संवत् 1915 तदनुसार 25 फरवरी 1859 ई. पौष कृष्णा एकादशी विक्रम संवत् 1982 तदनुसार 12 दिसं. 1925 ई.) वृन्दावन के थे। हिन्दी साहित्य के वृन्दावन के एक कृतिपुरुष ही थे।

गोस्वामी जी के पिता गल्लू जी महाराज अर्थात् गुणमंजरी दास जी (1827 ई.-1890 ई.) एक भक्त कवि थे। उनमें किसी प्रकार की धार्मिक कट्टरता और रूढ़िवादिता नहीं थी, प्रगतिशीलता और सामाजिक क्रान्ति की प्रज्ज्वलित चिनगारियाँ थीं। उनमें राष्ट्रवादी राजनीति की प्रखर चेतना थी। उनकी आयु मात्र बाइस वर्ष 3 माह के आसपास ही थी जब कोलकाता से प्रकाशित साप्ताहिक पत्र 'भारत मित्र' (3 जून, 1880 ई.) में उन्होंने 'पार्लियामेंट में भारतीय प्रतिनिधि' शीर्षक सवा दो कॉलम का लेख लिखा था जिसमें उन्होंने कहा था ''पार्लियामेंट में तो सभी श्वेतकाय हंस हैं, उनके समाज में भारतवासी कृष्णकाक तो कोई भी नहीं, फिर भला हमारे, दुःख को राजहंस कब सुनने चले? जो कोई यहाँ का वायस जाकर उनसे चंचुयुद्ध करे, और अपने दुःख का वायस तथा वायसराय आदि की कृपा सूचन करै, तब अवश्य कुछ उपकार हो सकता है। अतएव सर्वप्रथम भारत प्रतिनिधि के पार्लियामेंट में प्रवेश कराने की चेष्टा करनी चाहिए।'' (भारतमित्र, 3 जून 1880 ई. पार्लियामेंट में भारत प्रतिनिधि, पृ. 6, कॉलम 2)।

गोस्वामी जी ने भी 1883 ई. में पश्चिमोत्तर और अवध में आत्मशासन की माँग की थी। मासिक पत्र 'भारतेन्दु' वैशाख शुक्ल 15 विक्रम संवत् 1940 तदनुसार 22 मई 1883 ई. में उन्होंने 'पश्चिमोत्तर और अवध में आत्मशासन' शीर्षक सम्पादकीय अग्रलेख लिखा था।

1880 ई. के आरम्भ से ही हिन्दी पट्टी में आत्मशासन की माँग उठ रही थी। पटना से प्रकाशित हिन्दी साप्ताहिक 'बिहार बन्धु' 7 जनवरी बुधवार 1880 (जिल्द 8, नम्बर एक) ने 'हिन्दुस्तान के लिए हुकूमत क़ाइम मुकामी' शीर्षक सम्पादकीय अग्रलेख लिखा था और 'मुल्की ख्यालों की तरफ रागिब' करने न और 'अपने मुल्क वालों को मुल्की मुआमिलों के सोचने समझने का मौका' देने का संकल्प किया था। ('बिहार बन्धु', 8 अप्रैल बुधवार 1880 ई. जिल्द 8 नम्बर 13, 'मुल्की मुआमिलात' शीर्षक सम्पादकीय पृ. 3)। कोलकाता से प्रकाशित पत्र 'सारसुधानिधि', 12 जुलाई 1880 ई. और 28 फरवरी 1881 ई. ने क्रमशः 'भारतवर्ष में प्रतिनिधि शासन प्रणाली की आवश्यकता' और 'लार्ड रिपन के प्रति प्रतिनिधि शासन प्रणाली विषयक स्मारपत्र' शीर्षक तेजस्वी सम्पादकीय अग्रलेख लिखे थे।

तात्पर्य यह कि भारतवर्ष की तत्कालीन राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना की नब्ज पर उनकी उँगली थी और नवजागरण की मुख्यधारा में उनकी सक्रिय एवं प्रमुख भूमिका थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बनारस, इलाहाबाद, पटना, कलकत्ता और वृन्दावन नवजागरण के पाँच प्रमुख केन्द्र थे। वृन्दावन केन्द्र के एकमात्र सार्वकालिक प्रतिनिधि राधाचरण गोस्वामी ही थे।

गोस्वामी जी देशवासियों की सहायता से देशभाषा हिन्दी की उन्नति करना चाहते थे। देशभाषा की उन्नति के लिए सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 1882 ई. में देशभाषा की उन्नति के लिए अलीगढ़ में भाषावर्द्धिनी सभा को अपना सक्रिय समर्थन प्रदान करते हुए कहा था '...यदि हमारे देशवासियों की सहायता मिले, तो इस सभा से भी हमारी देशभाषा की उन्नति होगी।'

गोस्वामी जी सामाजिक रूढ़ियों के उग्र किन्तु अहिंसक विरोधी थे। वे जो कहते थे, उस पर आचरण भी करते थे। अपने आचरण के द्वारा वे गलत सामाजिक परमपराओं का शान्तिपूर्ण विरोध करते थे। यहाँ एक उदाहरण देना यथेष्ठ होगा। मथुरा के सेठ लक्ष्मण दास, सी.आई.ई. के आमंत्रण पर 1880 ई. में लार्ड रिपन मथुरा स्थित जमुनाबाग का उद्घाटन करने आए थे। उद्घाटन समारोह के अवसर पर आमंत्रित वल्लभ कुल के एक गोस्वामी मुख्य अतिथि की मेज अर्थात् वहाँ सबसे ऊँचे आसन पर पालथी मारकर बैठ गए। अपनी परम्परा के अनुसार वे सबके साथ बैठने में अपना अपमान समझते थे। वल्लभ कुल के गोस्वामियों में सर्वसाधारण से ऊँचे आसनों पर बैठने की परम्परागत प्रवृत्ति थी। जब सेठ जी ने उनसे कुर्सी पर बैठने का आग्रह किया तो उन्होंने कहा 'चोखौ बैठो हूँ' और उनका निवेदन उन्होंने हठपूर्वक अस्वीकार कर दिया। निकट खड़े गोस्वामी राधाचरण जी अपने आचरण से वल्लभ सम्प्रदाय के गोस्वामियों को शिक्षा प्रदान करने हेतु जनसाधारण के रखे जूतों के पास बैठ गए। सर्वसाधारण से ऊँचे आसनों पर बैठने की अन्ध परम्परा वल्लभ सम्प्रदाय के गोस्वामियों में थी। पण्डित राधाचरण जी में किसी प्रकार का अहंकार नहीं था।

1903 ई. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' शीर्षक कविता खड़ी बोली में लिखी थी जिसका प्रकाशन

'सरस्वती', जुलाई 1903 ई. (भाग 4 संख्या 7) में हुआ था जिसकी कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार हैं

स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै,
विनय इतना हमारा मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो।
न जावो पास, उससे दूर भागो॥
अरे भाई! अरे प्यारे! सुनो बात,
स्वदेशी वस्त्र से शोभित करो गात।
वृथा क्यों फूकते हो देश का दाम
करो मत और अपना नाम बदनाम॥

गोस्वामी जी की 'स्वदेशी स्वीकार विदेशी बहिष्कार' नीति का मूल्यांकन इसी परिप्रेक्ष्य में करना होगा।

गोस्वामी पण्डित राधाचरण 1885 ई. में वृन्दावन नगरपालिका के सदस्य पहली बार निर्वाचित हुए थे। 10 मार्च, 1897 ई. को वे तीसरी बार नगरपालिका के सदस्य निर्वाचित हुए थे। नगरपालिका के माध्यम से वृन्दावन की कुंजगलियों में छः पक्की सड़कों का निर्माण उन्होंने कराया था।

पंजाब केसरी लाला लाजपत राय का आगमन दो बार वृन्दावन में हुआ था। दोनों बार गोस्वामी जी ने उनका शानदार स्वागत किया था। ब्रज माधव गौड़ीय सम्प्रदाय के श्रेष्ठ आचार्य होने के बावजूद उनकी बग्घी के घोड़ों के स्थान पर स्वयं उनकी बग्घी खींचकर उन्होंने भारत के राष्ट्रनेताओं के प्रति अपनी उदात्त भावना का सार्वजनिक परिचय दिया था।

तत्कालीन महान क्रान्तिकारियों में उनके प्रति आस्था और विश्वास था और उनसे उनके हार्दिक सम्बन्ध भी थे। उदाहरणार्थ, 22 नवम्बर 1911 ई. को महान क्रान्तिकारी रास बिहारी बोस और जोगेश चक्रवर्ती उनसे मिलने उनके घर पर आए थे और उनका प्रेमपूर्ण स्वागत उन्होंने किया था। उक्त अवसर पर गोस्वामीजी की दोनों आँखें प्रेम के भावावेश के कारण अश्रुपूर्ण हो गई थीं।

गोस्वामी जी कांग्रेस के आजीवन सदस्य और प्रमुख कार्यकर्ता थे। उनके जीवन काल में देश के लिए बलिदान करने वाली यह एकमात्र पार्टी थी। 1888 ई. से 1894 तक वे मथुरा की कांग्रेस समिति के सचिव थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा में स्वयं कहा है ''देशोन्नति, नेशनल कांग्रेस, समाज संशोधन, स्त्री स्वतन्त्रता यह सब मेरी प्राणप्रिय वस्तुएँ हैं।''

गोस्वामी जी में प्रखर राजनीतिक चेतना थी। वे तत्कालीन प्रमुख राजनीतिक विषयों पर अपने समय की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अखिल भारतीय स्तर पर लेखादि लिखते रहते थे। उन्होंने 'सारसुधानिधि', विक्रम संवत् 1937, वैशाख 29 चन्द्रवार 10 मई 1880 (भाग 2 अंक 5) में प्राप्त 'स्तंभ' के अन्तर्गत 'काबुल का अचिन्त्य भाव' शीर्षक लेख लिखा था। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

उन्होंने विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर अपनी लेखनी चलाई और नाना प्रकार की तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों पर तेज प्रहार किए।

गोस्वामी जी के सतत प्रयत्न से मथुरा वृन्दावन रेल का संचालन हुआ।

गोस्वामी राधाचरण के पिता गल्लूजी महाराज का निधन 1890 ई. में हो गया था। उनके निधन का अनुचित लाभ उठाकर उनके ही सम्प्रदाय में एक अप्रिय विवाद उत्पन्न हो गया कि इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु के जन्मदिन पर व्रत रखा जाए या नहीं और चैतन्य महाप्रभु का पूजन श्रीकृष्ण मन्त्र से किया जाए अथवा श्रीमहाप्रभु के ही मन्त्र से किया जाए। इस विवाद ने प्रायः दो वर्षों तक व्यापक रूप धारण कर लिया था। अन्त में गोस्वामी राधाचरण जी ने विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि महाप्रभु चैतन्य के व्रत और मन्त्र सर्वथा स्वतन्त्र हैं। इस गम्भीर विवाद पर विजय प्राप्त करने पर नवद्वीप और वृन्दावन के साम्प्रदायिक आचार्यों ने उन्हें 'विद्यावागीश' की उपाधि ससम्मान प्रदान की थी।

वृन्दावन के राधारमण मन्दिर में अढ़ाई वर्षों के अन्तराल में 17 दिनों की सेवा करने का अधिकार उन्हें प्राप्त था। अपने निधन के चार दिन पूर्व तक श्रीराधारमण जी की मंगला आरती प्रातः चार बजे वे स्वयं करते थे।

गोस्वामीजी के जीवन दर्शन का मूल संदेश धर्म, जाति, वर्ग और साहित्य की विविधता में एकता का समन्वय था। उन्हें संकीर्ण और कुंठित भावनाएँ स्पर्श नहीं करती थीं।

डाक और रेल के टिकटों में भी नागरी लिपि का प्रवेश होना चाहिए था। एतदर्थ उन्होंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे थे। कलकत्ता से प्रकाशित हिन्दी साप्ताहिक पत्र 'सारसुधानिधि', 12 सितम्बर 1881 ई. में उन्होंने कहा था

'रेल की टिकटों में नागरी नहीं लिखी जाती है जिससे नागरी का प्रचार नहीं हो पाता। क्या रेलवे अध्यक्षों को नागरी से शत्रुता है या हमारे देशवासी नागरी जानते ही नहीं।'

इससे पूर्व उन्होंने 'सारसुधानिधि' 7 अगस्त 1881 ई. को यह सवाल उठाया था कि आर्य राजाओं ने अपनी रियासतों में फारसी सिक्का क्यों जारी रखा है? स्वजातीयाभिमान का प्रश्न था।

गोस्वामी जी सर्वधर्म समभाव के सिद्धान्त के प्रतीक थे। श्रीराधारमण जी के अनन्य उपासक और ब्राह्म माध्व गौड़ीय सम्प्रदाय के मुख्य आचार्य होने के बावजूद उनमें किसी भी धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय के प्रति दुराव अथवा दुराग्रह नहीं था। अपने जीवन चरित के नौवें पृष्ठ पर उन्होंने स्वयं लिखा है

''मैं एक कट्टर वैष्णव कट्टर हिन्दू हूँ। अन्य धर्म अथवा समाज के लोगों से विरोध करना उचित नहीं समझता। बहुत से आर्य समाजी, ब्राह्म समाजी, मुसलमान, ईसाई मेरे सच्चे मित्र हैं और बहुधा इनके समाजों में जाता हूँ।''

गोस्वामी जी विधवा विवाह के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने अनेक असहाय बाल विधवाओं के पुनर्विवाह स्वयं पिता बनकर कराया थे। उनके विरोधी एतदर्थ उन पर अवांछित आक्षेप भी करते थे। विधवा विवाह के समर्थन में विविध पत्र-पत्रिकाओं में उन्होंने अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे। विधवा विवाह के पक्ष में उन्होंने 'विधवा विपत्ति' और 'बाल विधवा' शीर्षक दो उपन्यास भी लिखे थे। 1909 ई. की जनगणना के अनुसार भारतवर्ष में हिन्दू बाल विधवाओं, जिनकी उम्र 15 वर्षों के अन्दर थी, की संख्या 321470 थी। इन विधवाओं की मानसिक पीड़ा देखकर उन्होंने विधवा विवाह का पक्ष लिया। गोस्वामी जी रूढ़िवादिता के उग्र विरोधी थे।

गोस्वामी राधाचरण के साहित्यिक जीवन का उल्लेखनीय आरम्भ 1877 ई. में हुआ। इस वर्ष उनकी पुस्तक 'शिक्षामृत' का

प्रकाशन हुआ। यह उनकी प्रथम पुस्तकाकार रचना है। तत्पश्चात् मौलिक और अनूदित सब मिलाकर पचहत्तर पुस्तकों की रचना उन्होंने की। इनके अतिरिक्त उनकी प्रायः तीन सौ से ज्यादा विभिन्न कोटियों की रचनाएँ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में फैली हुई हैं जिनका संकलन अब तक नहीं किया जा सका।

उनकी साहित्यिक उपलब्धियों की अनेक दिशाएँ हैं। वे कवि थे, हिन्दी गद्य की विभिन्न विधाओं की श्रीवृद्धि भी उन्होंने की। उन्होंने राधाकृष्ण की लीलाओं, प्रकृति-सौन्दर्य और ब्रज संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर काव्य-रचना की। कविता में उनका उपनाम 'मंजु' था।

गोस्वामी राधाचरण ने समस्या प्रधान मौलिक उपन्यास लिखे 'बाल विधवा' (1883-84 ई.), 'सर्वनाश' (1883-84 ई.), 'अलकचन्द' (अपूर्ण 1884-85 ई.) 'विधवा विपत्ति' (1888 ई.) 'जावित्री' (1888 ई.) आदि। वे हिन्दी में प्रथम समस्यामूलक उपन्यासकार थे, प्रेमचन्द नहीं। 'वीरबाला' उनका ऐतिहासिक उपन्यास है। इसकी रचना 1883-84 ई. में उन्होंने की थी। हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास का आरम्भ उन्होंने ही किया। ऐतिहासिक उपन्यास 'दीप निर्वाण' (1878-80 ई.) और सामाजिक उपन्यास 'विरजा' (1878 ई.) उनके द्वारा अनूदित उपन्यास है। लघु उपन्यासों को वे 'नवन्यास' कहते थे। 'कल्पलता' (1884-85 ई.) और 'सौदामिनी' (1890-91 ई.) उनके मौलिक सामाजिक नवन्यास हैं।

प्रेमचन्द के पूर्व ही गोस्वामी जी ने समस्यामूलक उपन्यास लिखकर हिन्दी में नई धारा का प्रवर्त्तन किया।

गोस्वामी जी के नाटकों और प्रहसनों में उनकी सुधारवादी चेतना ही सर्वप्रमुख है। 'बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखें तमाशे' नामक प्रहसन में हिन्दू और मुसलमान किसान एक साथ जमींदार के प्रति सम्मिलित विद्रोह करते हैं और अपनी समस्याओं का निराकरण करते हैं। किसानों की समस्याओं में धर्म का विभेद नहीं होता।

उनका व्यंग्य लेखन भी उत्कृष्ट कोटि का है। उदाहरणार्थ, मासिक पत्र 'हिन्दी प्रदीप' आषाढ़ शुक्ल 15 विक्रम संवत् 1939 तदनुसार 1 जुलाई 1882 ई. (जिल्द 5 संख्या 11) में पृष्ठ संख्या 9 पर गोस्वामी जी द्वारा विरचित 'एक नए कोष की नकल' का प्रकाशन हुआ था जिसमें व्यंग्य की प्रचुरता है। उक्त 'नकल' के कतिपय अंश अधोलिखित है

''मधुर भाषा। अँग्रेजी।
शरीफों की जबान। उर्दू या राजा शिव प्रसाद जिसे कहैं॥
जंगली लोगों की भाषा। संस्कृत-हिन्दी परम कर्तव्य। खुशामद खुशामद॥
अकर्तव्य। देश का हित, भारतवासियों की भलाई।''

उक्त व्यंग्य में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की भारतीय मानसिकता का दिग्दर्शन होता है।

गोस्वामी जी एक श्रेष्ठ समालोचक भी थे। उनकी प्रतिज्ञा थी ''किसी पुस्तक की समालोचना लिखो तो सत्य-सत्य लिखो।''

निबन्ध लेखन के क्षेत्र में उनका उल्लेखनीय योगदान रहा है। उनके निबन्धों का वर्ण्य विषय अत्यन्त व्यापक था। उन्होंने ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, शिक्षा और यात्रा सम्बन्धी लेख लिखे। तत्कालीन विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में उनके बहुसंख्यक लेख बिखरे हुए हैं जिनका संकलन अब तक नहीं किया जा सका।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा में एकरूपता का अभाव था। हिन्दी गद्य खड़ी बोली और पद्य ब्रजभाषा में था। संसार के किसी भी साहित्य में गद्य और पद्य की भाषा विषयक विसंगति नहीं थी। 1887 ई. में अयोध्या प्रसाद खत्री (1857 ई.-04 जनवरी 1905 ई.) के सम्पादन में *खड़ी बोली का पद्य* का प्रकाशन हुआ। खत्री जी ने हिन्दी साहित्य की इस भाषा विषयक विसंगति के विरोध में आन्दोलन किया। इस पर व्यापक विवाद हुआ था। खड़ी बोली पद्य आन्दोलन का आरम्भ *हिन्दोस्तान* (दैनिक पत्र) 11 नवम्बर 1887 ई. से हुआ जब राधाचरण गोस्वामी ने खड़ी बोली पद्य का सक्रिय विरोध किया। गोस्वामी जी का कथन था कि ''यदि खड़ी बोली में कविता की चेष्टा की जाए तो खड़ी बोली के स्थान पर थोड़े दिनों में उर्दू की कविता का प्रचार हो जाएगा।'' (*हिन्दोस्तान,* 11 अप्रैल 1888 ई.)

गोस्वामी जी द्वारा सम्पादित मासिक पत्र 'भारतेन्दु' का पुनर्प्रकाशन 1 अक्टूबर 1890. ई. से हुआ था। 'भारतेन्दु' 1 अक्टूबर 1890 ई. (पुस्तक 5 अंक 1) में पृष्ठ संख्या 2 पर 'भारतेन्दु का प्रेमालाप' शीर्षक सम्पादकीय में सम्पादक राधाचरण गोस्वामी ने कहा था ''भाषा कविता पर बड़ी विपत्ति आने वाली है। कुछ महाशय खड़ी हिन्दी का मुहम्मदी झण्डा लेकर खड़े हो गए हैं और कविता देवी का गला घोंटकर अकाल वध करना चाहते हैं जिससे कवि नाम ही उड़ जाए...''

अर्थात् खड़ी बोली कविता का विरोध करने के लिए उन्होंने 'भारतेन्दु' का पुनर्प्रकाशन किया था। किन्तु यह पत्र अपने पुनर्प्रकाशन के बावजूद अल्पजीवी ही सिद्ध हुआ।

पण्डित श्रीधर पाठक खड़ी बोली गद्य के समर्थक थे। गोस्वामी जी और पाठक जी में खड़ी बोली पद्य आन्दोलन के दौर में एतदर्थ मनोमालिन्य भी हुआ। 4 जनवरी 1905 ई. को खत्री जी का निधन हो गया था। *सरस्वती* और अन्य पत्रिकाओं में खड़ी बोली कविताओं का प्रकाशन शुरू हो गया था।

18 मई 1906 को गोस्वामी जी को लिखित अपने एक व्यक्तिगत पत्र में पण्डित श्रीधर पाठक ने कहा था ''पुराने प्रेमियों को भूल जाना गुनाह में दाखिल है।'' पाठक जी की ओर से पारस्परिक मनोमालिन्य दूर करने की यह सार्थक चेष्टा थी। गोस्वामी जी ने अपने जीवनकाल में ही मैथिलीशरण गुप्त और छायापाद का उत्कर्ष देखा। उनका खड़ी बोली पद्य के प्रति विरोध दूर हो गया था। जनवरी 1910 ई. से 1920 ई. तक वृन्दावन से उन्होंने धार्मिक मासिक पत्र *श्रीकृष्ण चैतन्य चन्द्रिका* का सम्पादन-प्रकाशन किया था। उक्त मासिक पत्र के प्रथमांक (जनवरी 1910 ई.) में स्वयं 'श्री विष्णुप्रिया का विलाप' शीर्षक कविता खड़ी बोली पद्य में लिखी थी, जिसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ थीं

संन्यास ले जब गौर प्रभु घर छोड़कर चलने लगे।/नदिया निवासी गण सभी दुःखित महा होने लगे॥/प्रभु पत्नी श्री विष्णुप्रिया मन

दुःख पाकर के महा। /करने लगी जु विलाप
यों हा! दुःख जाता नहीं सहा॥

गोस्वामी जी साहित्यकार ही नहीं, पत्रकार भी थे। उन्होंने वृन्दावन से *भारतेन्दु* मासिक पत्र का सम्पादन-प्रकाशन किया था जिसका प्रथमांक चैत्र शुक्ल 15, विक्रम संवत् 1940 तदनुसार 22 अप्रैल 1883 ई. को प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन 3 वर्ष 5 माह तक हुआ। किन्तु व्यय अधिक होने से इसे बन्द कर देना पड़ा। 1910 ई. से 1920 ई. तक वृन्दावन से ही *श्रीकृष्ण चैतन्य चन्द्रिका* नामक धार्मिक मासिक पत्रिका का सम्पादन-प्रकाशन उन्होंने किया था।

गोस्वामी राधाचरण जी ने *'मेरा* संक्षिप्त जीवन परिचय' (1895 ई.) शीर्षक अपनी संक्षिप्त आत्मकथा में लिखा था

''लिखने के समय किसी ग्रन्थ की छाया लेकर लिखना मुझे पसन्द नहीं। जो कुछ अपने मन का विचार हो वही लिखता हूँ।''

पण्डित बालकृष्ण भट्ट और *हिन्दी प्रदीप* ने पण्डित राधाचरण गोस्वामी को हिन्दी के साढ़े तीन लेखकों में से एक माना था। *हिन्दी प्रदीप* जनवरी-फरवरी मार्च 1894 ई. (जिल्द 17 संख्या 5, 6 और 7) ने कहा था कि हिन्दी के साढ़े तीन सुलेखक थे बाबू हरिश्चन्द्र अर्थात् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, ब्राह्मण मासिक पत्र के सम्पादक प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी, आधा *पीयूष प्रवाह* सम्पादक अम्बिकादत्त व्यास।

इस कथन से गोस्वामी जी की महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। देशोपकार उनके सम्पूर्ण लेखन का मूलमन्त्र था। विचारों की उग्रता और प्रगतिशीलता में वे अपने युग के अन्य सभी लेखकों से बहुत आगे थे। वे एक क्रान्तिदर्शी साहित्यकार थे, प्रखर राष्ट्र-चिन्तक, साहित्य और समय की धारा को नया मोड़ देनेवाले युगद्रष्टा कथाकार भी। स्वाधीन चेतना, आत्मनिर्भरता, साहस, निर्भयता और आत्माभिमान उनके विशेष गुण थे। वे वस्तुतः भारतभक्त और हिन्दी साहित्य के एक गौरव स्तम्भ ही थे।

दक्षिण दरवाजा, गया-823001 (बिहार)
दूरभाष : 0631-2227318

स म र ण

गीत–शेष हो चले हरीश भादानी

मालचन्द तिवाड़ी

वह 'सड़कवासी राम' था। उसकी यात्रा 'अधूरे गीत' (1959) से शुरू हुई थी जो 'सपन की गली' से गुजरकर आज एक विराट में सम-स्वर हो गई। जी हाँ, जनकवि हरीश भादानी ने 2 अक्टूबर, 2009 अर्थात् गाँधी-जयंती को भोर के 4 बजे अपनी प्रिय छबीली घाटी में अन्तिम साँस ली। हरीशजी विगत कोई दो वर्ष से अस्वस्थ थे। फिर पता चला, उन्हें भोजन-नली का कैंसर था। निधन से कोई तीन महीने पहले उनका मुँह से आहार ले पाना बन्द हो गया था। चिकित्सकों ने शल्य-चिकित्सा के जरिए तरल भोजन सीधे पेट में पहुँचाने की व्यवस्था कर दी थी। इस ऑपरेशन के बाद मैं और दीपचन्द सांखला उनसे मिलने अस्पताल गए थे। उनके बायें हाथ में ट्रिप लगी थी और उनके जामाता जुगल खड़गावत उनकी प्यारी और मुलायम-सी हथेली सहला रहे थे। उनकी इस हथेली को देखकर मुझे बरसों पहले उनसे पूछा गया एक नितान्त गैर-साहित्यिक सवाल याद आ रहा था। मैंने उनके हाथों में पीलापन देखकर पूछा था, ''भाई साहब, आपके हाथ पीले कैसे हुए?'' उन्होंने प्रतिप्रश्न किया, ''किसी को बताएगा तो नहीं?'' और तुरन्त बताने लगे, ''कच्ची हल्दी की तरकारी बनाई थी, उसे धोने-काटने में हाथ पीले हो गए। मेरी त्वचा की तासीर ही ऐसी है, रंग इस पर चढ़ जाए तो मुश्किल से ही छूटता है।''

यह विडम्बना ही थी कि इतनी उन्नत रसना वाले हरीशजी के अन्तिम दिनों में उनकी रसना की कोई भूमिका ही नहीं रही। अलबत्ता स्वादहीन यांत्रिक पोषण से एकदम

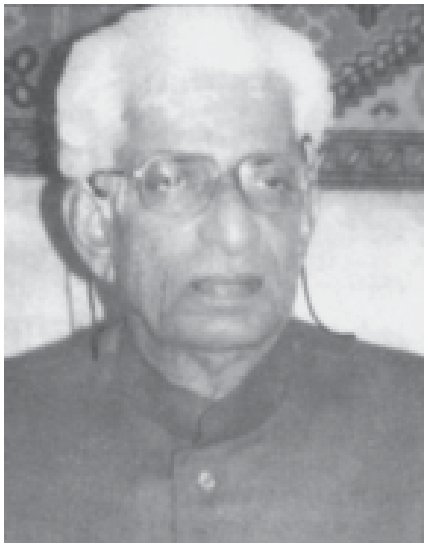

क्षीणकाम हो जाने के उपरान्त वे बोलने-बतियाने को अन्तिम क्षण तक उत्सुक थे। बीकानेर नगर में उनके लाडले अनुजों की संख्या यद्यपि संख्यातीत हो सकती है, किन्तु कवि सरल विशारद और नन्दकिशोर आचार्य तथा पत्रकार शुभू पटवा उनके अत्यन्त विशेषाधिकार सम्पन्न अनुज सदा रहे हैं। खासकर शुभू पटवा और नन्दकिशोर आचार्य ने पिछले कुछ वर्षों से उनके साथ भूमिका बदलकर उनका अभिभावकत्व ग्रहण कर लिया था। यह देखना अद्भुत, रोमांचक और बेमिसाल होता कि हरीश भादानी कैसे एक आज्ञाकारी बालकवत अपने इन अनुजों द्वारा दी गई व्यवस्थाओं को शिरोधार्य कर लेते थे। इन दिनों उन्हें बोलने की मनाही थी। बात का तरीका यह कि हम बोलें, आप सिर्फ सुनें। और यही हुआ। मृत्यु की पूर्व संध्या अर्थात् 1 अक्टूबर सायंकाल 7 बजे हरीशजी ने अपने छोटे जामाता रंगकर्मी अविनाश व्यास को इशारों से समझाकर नन्दकिशोर आचार्य को फोन लगाने के लिए

कहा। फिर स्वयं बिना एक भी शब्द बोले केवल मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए वे दूसरी तरफ बोल रहे आचार्यजी को सुनते रहे। हरीशजी चले गए, अब केवल नन्दकिशोर आचार्य ही जानते हैं कि उनके साथ अपने अन्तिम और एकतरफा संवाद में उन्होंने क्या कहा होगा?

वे अन्तिम दिनों में अपनी पुत्री कविता व्यास के पास थे। 29 सितम्बर को, इस जीर्ण-शीर्ण देहावस्था के बावजूद, वे कलकत्ता की यात्रा से लौटे थे। वहाँ वे अपनी बड़ी पुत्री और पश्चिम बंगाल से राज्यसभा में सांसद रही सरला माहेश्वरी के पुत्र अपने दोहित्र के विवाह में शरीक होने गए थे। मुझे इस सन्दर्भ में उन्हीं के एक गीत में प्रयुक्त एक पद 'जीवट के कारीगर' याद आया। 'कारीगर' खांटी बीकानेरी शब्द है, जिसका अर्थ होता है इमारतसाज। एक दूसरा शब्द है चलवा। चलवा इमारत का खाका बनाता है, कारीगर उसे रूपाकार देता है। एक कवि के रूप में वे दोनों थे अपनी कविता के चलवे और कारीगर।

मेरी राय में उनका कवि-कर्म एक विचित्र धर्म-संकट का कवि-कर्म रहा है। एक तरफ उनकी वज्रादपि कठोर मार्क्सवादी वैचारिक प्रतिबद्धता और दूसरी तरफ उनके अन्तरंग की सहज-सुलभ नमनीयता और भाव-प्रवणता। हम याद करें, वे 'अधूरे गीत', 'हंसिनी याद की' और 'सपन की गली' जैसा तरल-भावुक प्रतीतिमय पाथेय लेकर काव्य-यात्रा पर निकले थे। आज अपने यात्रान्त में वे हमसे एक जनकवि के रूप में विदाई ले रहे हैं। पाकिस्तान के मशहूर शायर फैज अहमद फैज की विश्व-विख्यात नज्म 'रकीब से' बरबस याद आती है। 'हमने देखी है वो पेशानी, वो रुखसार, वो होंठ' से शुरू यह नज्म गरीबों, मलजूमों, शोषितों और सताए हुए जनों का मार्मिक वर्णन करने के बाद मेहबूबा से इस क्षमायाचना की तान पर पूरी होती है कि ''अब भी दिलकश है तेरा हुस्न मगर क्या कीजे/लौट जाती है उधर को भी नजर क्या कीजे?'' याद आता है, फिराक गोरखपुरी ने इस नज्म के बारे में कहा था कि यह दोजख (नर्क) और जन्नत (स्वर्ग) का एकीकृत राग है। मेरा जी करता है कि ऐसा ही कुछ मिलता-जुलता-सा मैं हरीशजी की कविता के लिए कहूँ।

मैंने उन्हें पहले-पहल अपने लड़कपन में सन् 1977 के आम चुनाव के प्रचार के दौरान बीकानेर के सोनगिरी कुएँ पर एक गाड़े पर लगे माइक में गीत गाते सुना था। वे गा रहे थे

बोले खाली पेट की
करोड़-करोड़ कुंडियाँ
खाकी वर्दी वाले भोंपे
भरे हैं बंदूकियाँ
पाखण्डी के राज को
स्वाहा स्वाहा होम दे
राज के विधाता सुन
तेरे ही निमत है
रोटी नाम सत है
खाए से भुगत है...

जन-जागरण की उनकी यह शैली विलक्षण थी। वे सीपीएम का चुनाव-प्रचार अपनी पूरी काव्य-ऊर्जा झोंककर कर रहे थे। कबीर के लिए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है, ''वे वाणी के डिक्टेटर थे, जहाँ वाणी ने उनका साथ दिया, दिया और न दिया तो उन्होंने वाणी को ही दरेरा दे डाला...बेहददी मैदान में रहा कबीरा सोय।'' हरीशजी भी इसी 'बेहद्दी मैदान' के कवि-धावक थे। ऊपर के काव्यांश में ही देखें, देशज और सो भी खांटी बीकानेरी शब्दों को वे किस ऊर्जा की सान चढ़ाकर स्फूलिंग उछालते नजर आ रहे हैं। उनका एक गीत मुझे उनके इसी नितान्त मौलिक शब्द-लाघव के कारण अत्यन्त प्रिय है। वे इसमें शहरी दफ्तर संस्कृति के यान्त्रिक सांचे में ढलते मनुष्य का अत्यन्त त्रासद चित्र उसकी दिनचर्या के निमित्त से खींच देते हैं

कुनभुनते ताँबे की सुइयाँ
खुभ-खुभ आँख उघाड़े
रात ठरी मटकी उलटा कर
ठठरी देह पखारे
सीटी-सिसकी भरे टिफिन में
बैरागी-सी जाए
ड्योढ़ी रोज शहर फिर आए...

वे चले गए, इतने भर से वे मेरे लिए इतने विशद हो गए हैं कि मैं भला उन्हें कहाँ-कहाँ से परसूँ-परखूँ। बीकानेर के आयोजन-बहुल साहित्यिक परिदृश्य में वे एक सर्वसुलभ शख्सियत थे। नितान्त नौसिखियों से लेकर दिग्गजों तक के वे यकसां हमसफर थे। लोग भूमिकाएँ, फ्लैप-मैटर लिखवाने और आयोजनों में शिकरत करवाने के लिए उनका द्वार खटखटाते ही रहते थे। वे सबको 'हाथ का उत्तर' देते थे, मुँह का नहीं। वे आखिरी बार जिस साहित्यिक आयोजन में देखे गए, वह 'मुक्ति' बीकानेर द्वारा भँवर निवास पैलेस में आयोजित 'लोकवाणी' नाम से लोक-संस्कृति पर एक संगोष्ठी थी। इसके चार-पाँच रोज बाद ही मैं उनसे मिलने गया और यह भीषण थकान का सौदा करने पर उनसे नाराज हुआ था। वे बस मुसकुराते रहे, मानो कह रहे हों मै। अपनी मनुष्यता में लाइलाज हूँ। वे जब जिस क्षण याद आएँगे, मैं उन्हें नमन करूँगा। वे मेरे लिए वाणी के विनायक थे। उन्होंने मृत्यु की पूर्व-संध्या उनसे मिलने आए शान्ति प्रसाद बिस्सा को देखकर एक जिज्ञासा, सो भी भरसक प्रयास से बोलकर, प्रकट की थी। ''ओ शान्ति प्रसाद कोई लायो है?'' दरअसल वह वस्तु उनके अपने स्वर में गाए गीतों की कैसेट थी। वही शेष हैं। राजस्थानी में कहते हैं ढह जासी भींतड़ा/रह जासी गीतड़ा। वे गीत-शेष हो गए।

प्रहलिका, सोनगिरि कुँआ, बीकानेर-334005 (राजस्थान) मो. 09460022824

दूसरा सप्तक (1951) के तीसरे कवि हरिनारायण व्यास के सम्मुख

भारत भारद्वाज

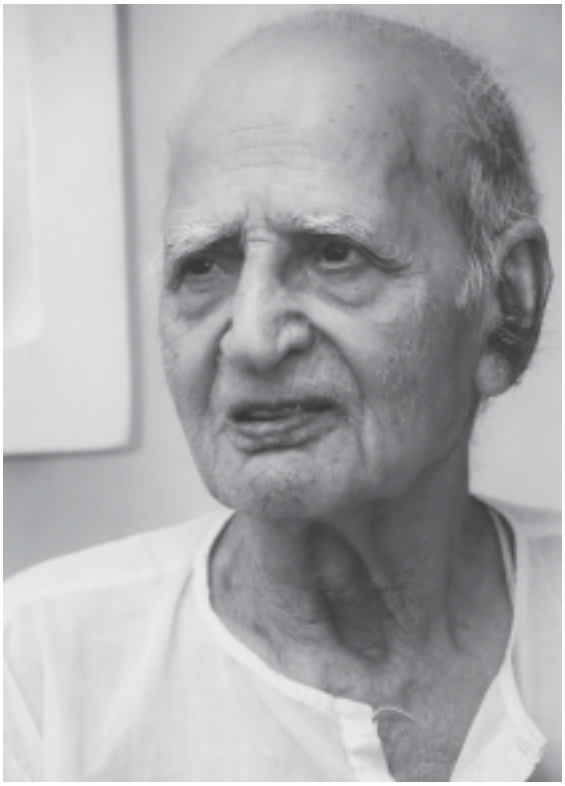

अज्ञेय के सम्पादन में जब 'तार सप्तक' का प्रकाशन 1943 में हुआ आपकी क्या प्रतिक्रिया थी? आप साहित्य में थे या बाहर?

'तारसप्तक' के प्रकाशन वर्ष 1943 मैं साहित्य में था। उन दिनों मैं उज्जैन में था और डॉ. प्रभाकर माचवे तथा गजानन मुक्तिबोध के सम्पर्क में आ चुका था। मेरी कविता 'कर्मवीर' (खण्डवा) और 'वीणा' (इन्दौर) में छप रही थी। इसके अलावा अन्य साप्ताहिकों में छप रही थीं।

उन दिनों हमने प्रगतिशीलसंघ की स्थापना श्री मुक्तिबोध के साथ मिलकर की थी। वह समय विश्वयुद्ध का समय था कि परिणामस्वरूप साहित्यिक गतिविधियाँ जोरों पर थीं। उज्जैन में तीन विचारधाराएँ व्याप्त थीं। 1. साम्यवादी विचारधारा, 2. गाँधीवादी विचारधारा, 3. पतनशील दमनकारी विचारधारा। यह स्पष्ट है कि उज्जैन का प्रगतिशील संघ विश्वयुद्ध का समर्थक था। हिटलर की पराजय हमारी प्राथमिकता थी। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हम गाँधीवादी विचारधारा के विरोध में नहीं थे। हम फासिज्म का विरोध करते थे।

'तारसप्तक' का प्रकाशन चौंका देने वाला था। क्योंकि संकलित कवियों में वैचारिक विविधता थी। किन्तु संकलित कविताएँ 'व्यक्तिवादी' थीं। माचवे जी और डॉ. रामविलास शर्मा की कविताएँ अवश्य समकालीनता की झलक देती थीं। मुक्तिबोध और अज्ञेय आत्मकेन्द्रित थे। गिरिजाकुमार माथुर सौन्दर्य परक कविताएँ लिखते थे। उनकी कोई स्पष्ट विचारधारा नहीं थी। उनकी कुछ कविताएँ देशभक्ति से प्रेरित हैं।

अज्ञेय पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता रहा है कि यह मध्यप्रदेश के कवियों की एक योजना थी, जिसे उन्होंने हथिया लिया? यह आरोप 'आलोचना' में प्रकाशित अपने एक लेख 'मुक्तिबोध मण्डल के कवि' में कान्ति कुमार जैन ने लगाया है कि म.प्र. के कवियों का एक संकलन 'नर्मदा की सुबह', प्रकाशित करने की योजना थी। वैसे नेमिचन्द्र जैन ने अपने जीवन में इसका बलपूर्वक खण्डन किया है। वस्तुस्थिति क्या है सुनी या असुनी कृपया अपनी प्रतिक्रिया दें।

जहाँ तक मैं जानता हूँ तारसप्तक के कवियों का चयन सुजालपुर नामक शहर में हुआ। यह सुजालपुर के हाईस्कूल में नेमिचन्द्र जी जैन और श्री भारत भूषण अग्रवाल अध्यापक थे। सुजालपुर उज्जैन के निकट है इसलिए माचवे जी और मुक्तिबोध चारों सम्पर्क में थे। और चयन में शायद सहभागी थे।

योजना के विषय में मैंने जो सुना है वही मैंने लिखा है।

अज्ञेय जी इस योजना में कैसे आए मैं नहीं जानता। शब्द 'हथिया' लेना अभद्र लगता है।

यह कहा जा रहा है कि 'तार-सप्तक' के सम्पादक का चुनाव कवियों ने किया था, जबकि 'दूसरा सप्तक' के कवियों का चुनाव सम्पादक ने? इस बात में कितनी सच्चाई है? कृपया प्रकाश डालें।

'तारसप्तक' के बारे में कह चुका हूँ। 'दूसरा सप्तक' के चयन में अज्ञेय जी की प्रमुख भूमिका रही है। किन्तु उन्होंने कुछ लोगों से मशविरा अवश्य किया था।

प्रभाकर माचवे ने कहीं अपने साक्षात्कार में कहा है कि यदि वे 'सप्तक' का सम्पादन करते तो बिहार के कवि राम इकबाल सिंह राकेश को शामिल करते। आपकी प्रतिक्रिया?

इससे यह स्पष्ट होता है कि 'दूसरा सप्तक' के चयन में अज्ञेय की भूमिका ही महत्त्वपूर्ण रही है।

कहते हैं कि 'दूसरा सप्तक' में अज्ञेय केदारनाथ अग्रवाल को भी शामिल करना चाहते थे, लेकिन उन्होंने अपनी कविताएँ

नहीं भेजीं। क्या आपको इसके बारे में कुछ पता है?

मैं इस विषय में कुछ नहीं जानता लेकिन केदारनाथ अग्रवाल तो 'तारसप्तक' में शामिल किए जाने योग्य थे।

'दूसरा सप्तक' (1951) में संकलित कवि एक-दूसरे को कितना और किस तरह जानते थे। मेरा अभिप्राय उनकी कविता से है।

जहाँ तक 'दूसरा सप्तक' के कवियों का एक-दूसरे को जानने की बात है तो सभी रचना के आधार एक दूसरे को नहीं जानते थे। हाँ, मैं नरेश मेहता और भवानीप्रसाद मिश्र की रचना से अवश्य परिचित था।

इसके पहले कि मैं आपकी कविता पर सवाल उठाऊँ, मेरे मन में यह जानने की इच्छा है कि जब 'दूसरा सप्तक' छपा, संकलित कवियों के बीच अपनी उपस्थिति आपको कैसी लगी?

मेरी कविताएँ उन दिनों समीक्षाओं में चर्चित अवश्य थीं। और 'दूसरा सप्तक' में शामिल होना अनपेक्षित तो नहीं किन्तु सुखद अवश्य है।

प्रयोगवादी कविता के अगुआ अज्ञेय थे और उन्होंने 'तीसरा सप्तक' में नई कविता के कवियों को शामिल किया। अज्ञेय का चुनाव क्या ठीक था? आपकी प्रतिक्रिया?

'तीसरा सप्तक' के सभी कवि चयन के योग्य हैं। जहाँ तक नई कविता की अगुवाई का प्रश्न है तो इलाहाबाद का परिमल ग्रुप अग्रणी रहा है।

लगभग लम्बे अर्से बाद यानी 1959 में 'तीसरा सप्तक' के प्रकाशन के 20 वर्षों बाद, जब अज्ञेय ने 1978 में 'चौथा सप्तक' का सम्पादन किया क्या? उनसे समकालीन कविता की पकड़ छूट चुकी थी?

'चौथा सप्तक' का संकलन ही आश्चर्य-जनक है। 'तीसरा सप्तक' और 'चौथा सप्तक' के प्रकाशन के बीच के समय में कविता की बुरी हालत रही है। ऐसे अनुपयुक्त समय में 'चौथा सप्तक' कोई नई दिशा देने में असमर्थ रहा है।

साठोत्तरी कविता की पूरी जीवंत पीढ़ी को उन्होंने ओझल किया। क्या यह आरोप सही है? इसी कारण हिन्दी के आलोचकों ने 'चौथा सप्तक' की नोटिस नहीं ली? सच क्या है, आप बताएँ?

अज्ञेय जी ने यह क्यों किया? यह प्रश्न क्या आपके प्रश्न का उत्तर नहीं है? 'चौथा सप्तक' और उसके प्रकाशन के समय में पूरी पीढ़ी तो नहीं लेकिन कई कवि थे। जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, गंगा प्रसाद विमल और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कवि धूमिल अवश्य इससे हिन्दी कविता के इतिहास में शामिल हुए हैं।

'दूसरा सप्तक' के आप तीसरे कवि हैं। यद्यपि आपके कविता संग्रह 'मृग और तृष्णा', 'त्रिकोण पर सूर्योदय', 'बरगद के पत्ते' तथा 'आउटर सिग्नल'...प्रायः निकलते रहे, लेकिन हिन्दी के आलोचकों ने आपके साथ न्याय नहीं किया। ठीक से कवि के रूप में आपका मूल्यांकन नहीं हुआ?

इस प्रश्न का उत्तर मेरे पास नहीं विद्वान समीक्षकों के पास है। मेरे लिए आप जैसे पाठक मित्रों की नजर से गुजरना मेरी भरपाई है। हाँ, इतना अवश्य खटकता है कि मेरी कविता को बिना पढ़े एक तरफ रख देना समीक्षा धर्म का अवमूल्यन अवश्य है।

आप दूसरा सप्तक के एकमात्र जीवित कवि हैं, तारसप्तक से लेकर अब तक कविता का बदलता दृश्य आपको कैसा लगता है?

'दूसरा सप्तक' के अन्य कवियों का स्वर्गस्थ हो जाना बहुत खटकता है। लगता है एक परिवार ही टूट गया। इस शृंखला की अन्तिम कड़ी कभी भी टूट सकती है।

आप मुक्तिबोध, प्रभाकर माचवे और गिरिजाकुमार माथुर के भी सम्पर्क में रहे। उनके साहचर्य ने आपके बौद्धिक विकास और कविता में क्या जोड़ा?

मैंने मुक्तिबोध से विचारधारा और उसका अन्तरंग समझा। गिरिजा कुमार माथुर से उपुयक्त शब्दों का प्रयोग और चयन और माचवे जी से मैंने दुनिया की समझ प्राप्त की।

'दूसरा सप्तक' में आपकी 10 कविताएँ शामिल हैं। इन कविताओं में विविधता ही नहीं है, काव्य-भाषा के कई स्तर भी हैं? क्या आपको नहीं लगता इनमें से अधिकांश कविताएँ छायावादी रोमानी उच्छ्वास की पृष्ठभूमि में लिखी गई थीं? मेरा संकेत 'नशीला चाँद से' ही नहीं, 'वर्षों के बाद' और 'शिशिरांत' से भी है। आपकी टिप्पणी?

कोई कवि क्या सृष्टि और समष्टि के सौन्दर्य की उपेक्षा कर सकता है? और क्या रूमानियत जीवन से अलग की जा सकती है? आप दुनिया के किसी भी कवि को उठा लीजिए, कहीं-न-कहीं वह खुलकर या दबे शब्दों में रूमानी होगा।

'दूसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में आपने कहा 'तारसप्तक' में इन्हीं चीत्कारों का प्राधान्य है। किन्तु इस नए साहित्यिक स्वरूप को केवल चीत्कारों की ढेरी बनकर समाप्त नहीं होना है।' इससे आपका आशय क्या था? अपने वक्तव्य के अन्त में आपने बिलकुल ठीक लिखा है 'कविता एक सपनों का संसार है। और यह संसार यदि नए जीवन के क्रीड़ास्थल नए जगत की रंगीनी से सिक्त हो तो कवि का कर्म और उसका सामाजिक दायित्व सार्थक हो जाते हैं।' लेकिन दूसरा सप्तक में संकलित आपकी कविताएँ इसका निषेध नहीं करतीं?

बात पुरानी हो गई है। अब तो मैं काफी हद तक पसन्द करता हूँ।

यह तो कामना है। एक सपना था जो आज बिलकुल नष्ट हो गया है। मेरी कविता में नए जीवन की ही झलक थी। संकलित सभी कविताएँ नए जीवन की कामना करती हैं।

यह सच है कि आप अपनी कविता में नए युग का आह्वान ही नहीं कर रहे थे 'एक भावना' कविता से, आपके भीतर 'मुक्ति के आभास' की भी बेचैनी थी। और तो और 'नेहरू जी के प्रति' कविता में अपने नेता से मुक्ति की आकांक्षा भी। लेकिन मुझे लगता है आपका यह आन्तरिक दृष्टिकोण है। कृपया इसे स्पष्ट करें।

मित्रवर, कविता मुक्त करती है। किसी आन्तरिक बन्धन से अन्तर्विरोध कैसा? कविताएँ स्पष्ट हैं। मेरे अपने रहन-सहन से यदि आपको अंतर्विरोध प्रतीत होता है तो इसका जिम्मेदार परिवेश है। परिवेश की डोर मेरे हाथों में नहीं है।

बाद में भी आपके अनेक कविता संग्रह निकले, जिसकी नोटिस हिन्दी आलोचकों ने नहीं ली। मैं आपसे जानना चाहता हूँ 'दूसरा सप्तक' से चलकर आपकी कविता आज कहाँ पहुँची है?

मैं उन मित्रों को नमस्कार करता हूँ। मेरी उपेक्षा से उनको सन्तोष मिलता है तो उनका सन्तुष्ट होना ही मेरा सुख है। मेरी कविता जो कभी विचारधारा तक सीमित थी आज विस्तार पा गई है। समय बदल गया है। बदल रहा है तो कविता भी बदलेगी। आज की कविता में होने वाले बदलाव तो अलग से चर्चा का विषय हैं।

अन्तिम सवाल, कविताएँ लिखते-लिखते आप अब कहाँ पहुँचे? विश्व साहित्य में आपके प्रिय कवि कौन हैं?

मेरे प्रिय कवि हैं टी.एस. इलियट, गालिब, कबीर, रहीम, अहमद फराज, मुक्तिबोध, अज्ञेय तथा और अन्य अनेक कवि।

आपने कृपापूर्वक मेरा अन्तरंग जानने के लिए कष्ट उठाया। इसके लिए मैं आपका आभारी हूँ। आप जानते हुए कि मैं दूसरे किनारे के निकट पहुँच चुका हूँ। मेरी उपस्थिति और अनुपस्थिति में स्नेहभाव बनाए रहें यह अनुरोध है।

हरिनारायण व्यास, 3/4, सी.पी.डब्लू.डी. क्वार्टर्स, मुकुंद नगर (दौलतराम मंदिर के पास), पुणे-411037
मो. 09371166611

दस्तावेज

काफ्का के कागजात

केट कोनोली

20वीं सदी के लेखक फ्रांज काफ़्का के रिसर्च स्कॉलर और विद्वान जुलाई 2009 की एक मंगल-रात को बड़े उत्सुक थे जब यह खबर जारी हुई कि उसकी धरोहर जो तेल अबीब के एक फ्लैट में बन्द पड़ी थी, शायद जल्द ही दुनिया के सामने आ जाए।

ऐसे दस्तावेज जो इससे पहले देखे नहीं गए, पोस्ट कार्ड्स, रेखाचित्र और निजी चीज़ें, जो जर्मन भाषा में लिखने वाले उस यहूदी चेक लेखक की मिल्कियत थीं, अब तक इस्थर हाफ़ के घर में धूल खा रही थीं। इस्थर हाफ़ काफ़्का के दोस्त और उसकी वसीयत को कार्यान्वित करने के जिम्मेदार मैक्स ब्रॉड की पूर्व सचिव थीं। इन दस्तावेजात को किसी और के हवाले करने से इस्थर हाफ के इन्कार की वजह से उसके और इजराइल सरकार के दरमियान चूहे-बिल्ली का-सा खेल चल रहा था। रियासत के सांस्कृतिक संभ्रान्त के दबाव के तहत इजराइल ने एक बार उनको इस सन्देह में गिरफ्तार भी कर लिया कि वह काफ़्का की पाण्डुलिपियाँ गैर कानूनी तौर पर देश से बाहर ले जा रही हैं।

101 वर्ष की आयु में उनके देहांत के बाद काफ़्का के प्रेमियों का विचार है कि यह लड़ाई अब बन्द हो जाएगी। शोधकर्ता अब हाफ़ के फ्लैट पर धावा बोलने के लिए तुले बैठे हैं और उन्हें पूरी उम्मीद है कि ये सामान उस रहस्यमय लेखक के नए कोने उजागर करेंगे जो 41 साल की उम्र में दुनिया छोड़ गया और साथ-साथ मैक्स ब्रॉड से उसकी दोस्ती पर भी, जो उसका सबसे बड़ा हामी था।

लेकिन अधिकारियों ने सचेत किया कि तेजाबी वातावरण की वजह से ये कागजात तेल अबीब के बीच में स्थित हाफ़ के नमीले फ्लैट की हालत की वजह से अच्छी हालत में न रहे होंगे और कुत्ते-बिल्लियों के उस समूह के कारण भी, जो वह दो साल तक अपने फ्लैट में पालती रही। यहाँ तक कि हेल्थ इन्स्पेक्टरों ने हस्तक्षेप किया जब पड़ोस में रहने वालों ने यहाँ से उठने वाली बदबू की शिकायत की।

इस सामान की रहस्यमयता उस वक्त से जारी है जब 1924 में काफ़्का की तपेदिक की वजह से वियना में मौत हो गयी। मैक्स ब्रॉड ने काफ़्का ने कागजात संभाल लिए जिसमें कई एक अप्रकाशित पाण्डुलिपियाँ भी शामिल थीं और अपने दोस्त की उस वसीयत को नजरअन्दाज किया कि कागजात जला दिए जाएँ। 1939 में नात्सी फौजों के प्राग में दाखिल होने से एक रात पहले ब्रॉड उस शहर से फरार हुआ, तो उसके साथ दो सूटकेसों में भरी काफ़्का की वे चीजें थीं जिनको वह बचा सका। वह रोमानिया के रास्ते फिलस्तीन पहुँचा और उस सामान को 1956 में स्वेज के संकट के दौरान स्विट्जरलैण्ड में हिफाजत से रखवा दिया।

1961 में उसने ज्यादातर पाण्डुलिपियाँ काफ़्फा के वारिसों की दरख्वास्त पर ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी की बोडलेस लाइब्रेरी को दे दीं। लेकिन उसने 'ट्रायल' की पाण्डुलिपि अपने पास रख ली, क्योंकि उसके मुताबिक यह पाण्डुलिपि काफ़्का ने उसे तोहफे में दी थी। इसके 30 साल बाद हाफ़ ने यह पाण्डुलिपियाँ लगभग दस लाख पौण्ड की एवज में सौदबी में नीलाम कर दी।

एक बार हाफ़ को तेल अबीब के हवाई अड्डे पर इस सन्देह में गिरफ्तार कर लिया गया कि वह इस जखीरे का कीमती सामान गैर कानूनी तौर पर देश से बाहर ले जा रही है। तलाशी लेने पर पुलिस को उस सामान में से काफ़्का के पत्रों और डायरी की पाण्डुलिपियाँ भी मिलीं। इस घटना के बाद उसने इजराइल के नेशनल आर्काइव्ज के कर्मचारियों को इस बात की इजाजत दे दी कि उन कागजात की सूची बना लें। फिर भी उस पर आरोप लगाया गया कि उसने कुछ आवश्यक पाण्डुलिपियाँ छुपा ली थीं।

साहित्यिक लोगों ने कई बार कोशिश की कि हाफ़ अपने पास मौजूद चीजों को येरुशलम की नेशनल लाइब्रेरी में जमा कर दे, लेकिन वे इसमें असफल रहे।

1980 के दशक में जर्मन प्रकाशक आरेटमस और एन्कलर ने ब्रॉड की डायरियों के एवज हाफ़ को पाँच अंकों की पेशगी रकम दी, लेकिन उनको अभी तक ये डायरियाँ हासिल न हो सकीं। 1993 में हाफ़ ने यह बात स्पष्ट कर दी कि ये डायरियाँ उसने तेल अबीब के एक बैंक में स्थानांतरित कर दी जहाँ उसके देहांत तक उसी की पहुँच थी। जर्मन प्रकाशकों और हाफ़ के कानूनी वारिसान के दरमियान कानूनी जंग अभी जारी है।

इस्थर को यह डर लगा रहता था कि ये सामान उसके पास से चुरा लिया जाएगा। यह ब्रॉड के एक करीबी दोस्त ओयतवाल बेन बोर्न के तेल अबीब के एक दैनिक को बताया। तेल अबीब की नमी की वजह से उस फ्लैट को उन कागजात के लिए 'नामुनासिब' करार देते हुए उन्होंने यह भी कहा, 'उसे किसी बात का यकीन दिलाना नामुमकिन था।''

समीक्षकों ने कहा कि यह कहानी खुद काफ्का की कलम से निकली हुई मालूम होती है। काफ्का को उसके देहान्त के 84 वर्ष बाद भी साहित्यिक पहेली करार दिया जाता है और इसकी वजह से 'पूरी दुनिया साँस रोके खड़ी है।' जर्मन अखबार 'दि वेलेट' ने लिखा। दैनिक 'हार्टेज' जिसने इस खबर को सबसे पहले प्रकाशित किया, इस घटना को 'काफ्काई' करार दिया और यूँ वही फिकरा इस्तेमाल किया जो काफ्का की तहरीरों से लिया हुआ है जो किसी ऐसे मामले के लिए इस्तेमाल किया जाता है जो गोपनीय और खतरनाक तौर पर पेचीदा हो।

शोधकर्ताओं, पाण्डुलिपि विशेषज्ञों और इजराइल सरकार की उलझन तब और बढ़ गई जब ब्रॉड की बीवी की मौत के बाद हॉफ़ ने उसकी प्रेमिका का दरजा हासिल कर लिया और ब्रॉड ने अपनी वसीयत में जो कागजात उसके नाम छोड़े, उन कागजात की हिफाजत बड़ी सावधानी के साथ करती रही, क्योंकि वह ब्रॉड के जीवन की कई निजी बातें गोपनीय रखना चाहती थी। यह जिम्मेदारी अब उसकी उम्ररसीदा बेटियों रूथ और हव्वा पर लागू होगी कि इस विरासत का क्या करें। मगर अखबारी सूचनाओं के अनुसार इजराइली अधिकारियों ने यह इरादा जाहिर किया है कि वे इसमें हस्तक्षेप के लिए तैयार हैं ताकि इस जखीरे को सुरक्षित रख सकें जिसे एक बहुमूल्य यहूदी ऐतिहासिक धरोहर करार दिया जाता है।

'ये सब वाकई बहुत रोमांचक है, खासतौर पर अगर ऐसे दस्तावेज मौजूद हैं जो अभी अप्रकाशित हैं', प्रोफेसर फ्रेडी रोकेम ने कहा, जो तेल अबीब यूनिवर्सिटी में थियेटर आर्ट के लेक्चरर हैं और जिन्होंने 1984 में मैक्स ब्रॉड के सौ वर्षीय आयोजनों के लिए कान्फ्रेंस की। 'हॉफ को ब्रॉड से काफ्का के कागजात का सूटकेस विरासत में मिल गया। सवाल यह है कि क्या उसे शुरू से मालूम था कि यह कितना कीमती है या उसे बाद में उनकी कीमत का अन्दाजा हुआ?'

काफ़्का पर कई किताबों के लेखक जोजफ सेरमाक ने कहा कि उन्हें उम्मीद है कि इन चीजों से साहित्यिक संसार में कुछ लड़ाइयाँ खत्म होने में मदद मिलेगी कि यह काफ़्का की पैदाइश का 125वां साल है और सारी दुनिया में उसके लिए प्रोग्राम आयोजित किए जा रहे हैं।

'काफ़्का के बारे में बहुत-सी ऐसी बातें लिख दी गई हैं जो हकीकत नहीं हैं। शोध के लिए लाजिमी है कि हम वे सब देख लें जो सनकीमिजाज मिस हॉफ़ ने इतने अर्से हमसे छुपाए रखा।'

फ्रांज काफ़्का 1883 में प्राग के एक मध्यम यहूदी घराने में पैदा हुआ। उसका सबसे मशहूर उपन्यास 'ट्रायल' 1925 में प्रकाशित हुआ और 20वीं सदी के तानाशाही का प्रतीक बन गया और उससे 'काफ़्काई' का शब्द निकला जो नौकरशाही में फँसकर रह जाने से लेकर जिन्दगी की निरर्थकता के लिए इस्तेमाल होने लगा। उसकी दूसरी किताबों में 'कायाकल्प' (1915) और 'कैसल' (1926) शामिल है। बेगानापन, अलगाव, पीड़ा और हताशा उसकी तहरीरों में भरी हुई हैं। इन कृतियों ने लोगों का ध्यान काफ्का की मौत के बाद आकृष्ट किया जब 1924 में फकत 41 साल की उम्र में वह एक सेनिटोरियम में चल बसा।

प्रस्तुति : हसन जमाल, पन्ना निवास (साइकिल मार्केट) के पास, लोहारपुरा, जोधपुर-342 002

'मतवाला' कैसे निकला

शिवपूजन सहाय

'हंस' का यह 'आत्मकथांक' है। इसमें आत्मकथा ही लिखनी चाहिए; किन्तु मेरी आत्मकथा, आरम्भ से आज तक, इतनी भयावनी है कि सचमुच यदि मैं ठीक-ठीक लिख दूँ, तो बहुत से लोग विष खाकर सो रहें, या नहीं तो मेरे ऊपर इतने अधिक मान-हानि के दावे दायर हो जाएँ, कि मुझे देश छोड़कर भाग जाना पड़े। इसलिए मैं सब बातों को छिपाकर नहीं लिखूँगा, और फिर मेरी आत्मकथा में कोई सीखने लायक सबक भी तो नहीं है। खैर, जाने दीजिए, 'मतवाला' की जन्म-कथा, संक्षेप में, सुन लीजिए; क्योंकि विस्तार करने पर फिर वही बात होगी।

सन् 1920-21 में महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक असहयोग की आँधी उठी। मैं जंगल के सूखे पत्ते की तरह उड़ चला। पहले 'आरा' नगर (बिहार) के टाउन-स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था, अब वहीं के नए राष्ट्रीय विद्यालय में हिन्दी-शिक्षक हुआ। कुछ महीनों तक छोटी-मोटी लीडरी ही रही। बाद में आरा के दो मारवाड़ी युवकों नवरंगलाल तुलस्यान और हरद्वार प्रसाद जालान के उत्साह से 'मारवाड़ी-सुधार' नामक सचित्र मासिक-पत्र, मेरे ही सम्पादकत्व में निकला। उसको छपवाने के लिए पूज्य पं. ईश्वरी प्रसाद शर्मा (स्वर्गीय) ने कलकत्ता में बालकृष्ण-प्रेस को ठीक किया। प्रथमांक छपवाने के लिए मैं पहले-पहल कलकत्ता गया। इसके बाद धनी मारवाड़ियों से सहायता लेने के लिए हाथरस, दिल्ली, इन्दौर, जयपुर, बम्बई आदि अनेक बड़े नगरों में महीनों घूमता फिरा। किसी तरह दो साल 'मारवाड़ी-सुधार' निकला। इसकी बड़ी लम्बी कहानी है।

'मारवाड़ी-सुधार' का अन्तिम अंक जब छप रहा था, तब मैं कलकत्ता में था। उस समय 'बालकृष्ण-प्रेस' शंकर घोष लेन के मकान नं. 23 में था। वहीं मैं रहता था। प्रेस के मालिक बाबू महादेव प्रसाद सेठ और मुंशी नवजातिकलाल जी श्रीवास्तव प्रेस ही में रहते थे। ऊपर वाले खण्ड में रामकृष्ण-मिशन के संन्यासी लोग थे, जिनके साथ पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' भी थे। 'निराला' जी रामकृष्ण कथा-मृत का अनुवाद और 'समन्वय' का सम्पादन करते थे। 'समन्वय' के संचालक स्वामी माधवानन्द आचार्य द्विवेदीजी से माँगकर 'निराला' जी को वहाँ ले गए थे। और, मुंशी नवजातिकलालजी श्रीवास्तव उस समय 'भूतनाथ तैल' वाले प्रसिद्ध किशोरीलाल चौधरी की कोठी में मैनेजर थे। इसलिए अधिकतर चौधरी जी का ही काम प्रेस में होता था।

एक दिन मुंशी जी बाजार से बांगला साप्ताहिक 'अवतार' खरीद लाए। वह हास्य-रस का पत्र था। शायद एक ही पैसा दाम था और शायद पहला ही अंक भी था; किन्तु उसी पर छपा था

Guaranteed Circulation 0000000000001. मसाला भी बड़ा मजेदार था। खूब पढ़ा गया। सोचावट होने लगी इसी ढंग का एक पत्र हिन्दी में निकाला जाए। रोज हर घड़ी चर्चा छिड़ी ही रहती थी। कितने ही हवाई किले बने और कितने ही उड़ गए। बहुत मंथन के बाद विचारों में स्तम्भन आया। उसी दम बात तय हो गई। बीजारोपण हो गया। ता. 20 अगस्त 1923 रविवार को सिर्फ बात पक्की हुई। ता. 21 सोमवार को मुंशीजी ने ही पत्र का नामकरण किया 'मतवाला'। मुंशीजी को दिन-रात इसी की धुन थी। नाम को सबने पसन्द किया। अब कमिटी बैठी। विचार होने लगा कौन क्या लिखेगा पत्र में क्या रहेगा, इत्यादि। 'निराला' जी ने कविता और समालोचना का भार लिया। मुंशीजी ने व्यंग्य-विनोद लिखना स्वीकार किया। मैं चुप था। मुझमें आत्मविश्वास नहीं था। बैठा-बैठा सब सुन रहा था। सेठजी भंग का गोला जमाए सटक गुड़गुड़ा रहे थे। मुझसे बार-बार पूछा गया। डरते-डरते मैंने कहा मैं भी यथाशक्ति चेष्टा करूँगा। सेठजी ने कहा आप लीडर (अग्रलेख) लिखिएगा, प्रूफ देखिएगा, जो कुछ घटेगा सो भरिएगा।

मैं दहल गया। दिल धड़कता था। मेरी अल्पज्ञता थरथराती थी। ईश्वर का भरोसा भी डगमगा रहा था। हड़कम्प समा गया। अथाह मंझधार में पड़ गया।

मुंशीजी और सेठजी तैयारी में लग गए। स्तम्भों के शीर्षक चुने गए। डिजाइन, ब्लाक, कागज, धड़ाधड़ प्रेस में आने लगे। चारु बाबू चित्रकार ने मुखपृष्ठ के लिए 'नटराज' का चित्र बनाया, देखकर सबकी तबीयत फड़क उठी। 'निराला' जी ने कविता तैयार कर ली, समालोचना भी लिख डाली। मुंशीजी भी रोज कुछ लिखते जाते थे। मैं हतबुद्धि-सा हो गया। कुछ सूझता ही न था। श्रावण की पूर्णिमा ता. 26 शनिवार को पड़ती थी। उस दिन 'मतवाला' का निकलना सर्वथा निश्चित था। युवती दुलहिन के बालक पति की तरह मेरा कलेजा धुकधुका रहा था।

ता. 23 बुधवार की रात को मैं लिखने बैठा। कई बार कई तरह से लिखा और फाड़ डाला। बहुत रात बीत गई। नींद भी नहीं आती थी। दिमाग चक्कर काट रहा

था। मन, जहाज का पक्षी हो रहा था। यकायक एक शैली सूझ पड़ी। लिखने लगा। भाव टपकने लगे। धारा चली! मन तृप्त हो गया। अग्रलेख पूरा करके सो रहा। सुबह उठते ही सेठजी ने माँगा। तब डरते-ही-डरते दिया; किन्तु ईश्वर ने लाज रख ली। सबने पसन्द किया। शीर्षक था 'आत्म-परिचय'।

कुछ मैटर प्रेस में जा चुका था। उसका प्रूफ मैं देख चुका था। अब उत्साह बढ़ने पर मैंने भी कुछ 'बहक' और 'चलती चक्की' लिखी। श्रावणी संवत् 1580 शनिवार (23 अगस्त 1923) को 'मतवाला' का पहला अंक निकल गया। था तो साप्ताहिक, मगर मासिक-पत्र की तरह शुद्ध और स्वच्छ निकला। बाजार में जाते ही, पहले ही दिन, धूम मच गई।

वहाँ सब लोग यू.पी. के निवासी थे, केवल मैं ही बिहारी था; इसलिए मेरी भाषा का संशोधन 'निराला' जी कर दिया करते थे। 'मतवाला' मण्डल में वही भाषा के आचार्य थे; किन्तु मुंशीजी अपनी लिखी चीज में किसी को कलम नहीं लगाने देते थे। मुंशीजी पुराने अनुभवी थे, कई अखबारों में रह चुके थे, उर्दू-फारसी के अच्छे जानकार थे, हाथ मँजा हुआ था। सिर्फ मैं ही बुद्धू था। अनाड़ी था। नौ सिखुआ था। 'निराला' जी बड़े स्नेह के साथ मेरी लिखी चीजें देखते, संशोधन करते और परामर्श देते थे। उनसे मैंने बहुत कुछ सीखा है। उनकी योग्यता का मैं कायल हूँ। फिर मुंशीजी का तो कहना ही क्या! वह तो 'मतवाला' मण्डल के प्राण ही थे। उनकी बहक का मजा मैं प्रूफ में लेता था। उनकी मुहावरेदार चुलबुली भाषा ने 'मतवाला' का रंग जमा दिया। 'निराला' जी की कविताओं और समालोचनाओं ने भी हिन्दी-संसार में हलचल मचा दी। वह भी एक अद्‌भुत युग था। यदि उस युग की कथा विस्तार से कहूँ, तो 'बाढ़े कथा पार नहिं लहऊँ!'

(हंस, आत्मकथा अंक, जनवरी-फरवरी 1932 ई. से साभार)

दस्तावेज

पोथी का सुख

शिवरतन थानवी

लेखक अध्येता तो हैं ही, विगत तीन दशक तक दो शैक्षिक पत्रिकाओं मासिक 'शिविरा पत्रिका' और द्विभाषी त्रैमासिक 'नया शिक्षक/टीचर टुडे' का सम्पादन करते रहे हैं। यह टिप्पणी हमें 'पुस्तकें और मैं' का ही बेहद रोचक और दिलचस्प प्रसंग लगा। पुस्तकों के प्रति लगाव और आत्मीयता का यह विरल और सुखद उदाहरण है। सम्पादक)

पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के लेन-देन को लेकर थोड़ा कठोर हूँ, कुछ नरम भी। इस मामले में आप जो नियम बनाएँ, सब मानने को तैयार हूँ। मगर मेरी पूछें तो नियमों से परहेज करने को भी उत्सुक हूँ।

कभी एक पत्रिका में बार-बार छपता था 'जब आप माँग कर खाते नहीं तो माँगकर पढ़ते क्यों हैं। मैं उस कथन से थोड़ा सहमत हूँ। मगर मित्रों में जितना हक मैं खाने-खिलाने का रखता हूँ, उतना ही माँगकर पढ़ने-पढ़वाने का भी।

पुस्तक या पत्रिका के लेन-देन का संस्कार संस्कृति का एक जरूरी अंग है।

पुस्तकालयों से किताबें लेते हैं, वह भी तो माँगकर पढ़ना है! फिर मित्रों के निजी संग्रह से माँगकर पढ़ें तो उसमें क्या बुराई है? शायद उसी एक आदत पर आश्रित रहने और गाँठ की दमड़ी खर्च न करने वालों के लिए उक्त पत्रिका ने वह सूत्र-वाक्य प्रचारित किया होगा। कुछ अपने प्रतिष्ठान के प्रकाशनों की बिक्री भी जेहन में रही होगी।

मेरे साधन सीमित रहे। पर घर के न्यूनतम आवश्यक खर्च को छोड़कर सारी आय जीवनभर किताबों और पत्र-पत्रिकाओं पर ही लगाई। शोभा वाले कपड़ों-गहनों, मकान-जमीन, फर्नीचर-वाहन जैसे किसी मद पर शायद कुछ नहीं लगाया। थोड़ा बहुत खर्च करना पड़ा तो बिसूरते हुए।

जीवन के कई रूप हैं। दो रूप देखिए कब्र में पाँव लटकाए बैठा था कि बाईपास हुआ और फिर से खड़ा हो गया। आँखों की रोशनी जाने लगी थी और घर की तमाम किताबें किसी पुस्तकालय को अर्पित करने की योजना बनने वाली थी कि दोनों आँखों में नए लैंस लग गए। अपनी किताबों को फिर सीने से लगाकर बैठ गया। अब एक किताब दूर हो जाए तो लगता है प्राण जाते हैं।

एक बार चला गया प्रो. वी.वी जॉन से मिलने। वे बड़े पुस्तक प्रेमी थे। तब जयपुर में कॉलेज शिक्षा के निदेशक थे। जब वे अजमेर में गवर्नमेंट कॉलेज के प्रिंसिपल थे तब भी जयपुर से अजमेर इसीलिए जाया करता था कि उनके पुस्तकालय का लाभ उठाऊँ। वहाँ इंग्लैण्ड-अमेरिका की नई साहित्यिक पत्रिकाएँ मिल जाती थीं। पढ़ता और शाम को जयपुर लौट आता। जीवन में जैसे चुटकी-भर केसर घुल जाती। केसर की चुटकी भी बहुत होती है! रोज-रोज तो जा भी नहीं सकता था। जयपुर के एक स्कूल में पढ़ाता था। अंग्रेजी में पी-एच.डी. की लालसा थी। नहीं कर सका उसका मलाल नहीं हुआ, पर उस बहाने ढूँढ-ढूँढ कर पढ़ने का जो आनन्द-बीज पड़ा, वह आज भी सुकून दे रहा है।

जॉन साहब के यहाँ दो बड़े आकर्षण थे 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' और 'टाइम्स एजूकेशनल सप्लीमेंट'। लाइब्रेरी की खूब ऊँची टाँड़ पर पुराने अंक रखे रहते। लोहे की

मजबूत सीढ़ी पर चढ़कर उन्हें लाना-देखना होता था। चढ़ता तो वहाँ 'न्यू स्टेट्समैन' भी मिलता है, 'लन्दन मैगजीन' भी, 'पोएट्री' और 'हार्वर्ड मैगजीन' भी। और भी कई पत्रिकाएँ। थोड़ा-थोड़ा उन्हें देखता। ज्यादा जोर लिटरेरी और एजूकेशनल सप्लीमेंट पर था। दस वर्ष बाद मेरा वश चला तब मैंने भी उन्हें मँगाया।

तो गया प्रो. जॉन के दफ्तर। वे दफ्तर में नहीं थे। उनके यहाँ रखी किताबों पर नजर दौड़ाई। चार पर मन आ गया। उनके पीए को नोट करवा के ले आया। यह प्रो. जॉन के दफ्तर में ही सम्भव था कि आपको वहाँ नई श्रेष्ठ पुस्तकों के दर्शन हो सकते थे और प्रो. जॉन से पहचान रखते हों तो ला भी सकते थे।

कुछ उनका और कुछ अपना स्वभाव। दफ्तर में हम भी दुनियाभर की श्रेष्ठ पुस्तकों और पत्रिकाओं का आह्वान करने लगे। अपना स्वभाव आधा उदार, आधा कठोर। एक मन करता कोई भी पुस्तक, कोई पत्रिका कोई न ले जाए। एक मन करता जिसको जो चाहिए, उसे ढूँढ़-ढूँढ़ कर दो।

लोग ले जाते। ले आते। एक रोज ऑडिट पार्टी आ गई। बोले, ''यह क्या हो रहा है? रखरखाव नियमानुसार नहीं हो रहा है। कई पुस्तकें लौटीं ही नहीं हैं।'' तब हिम्मत साथ थी। उनसे कहा, ''मटके कितने आए, कहाँ गए? आपने पूछा ही नहीं। शिक्षा का दफ्तर है यह। यहाँ पुस्तकें और पत्रिकाएँ पानी और मटकों की तरह हैं। इनका उपयोग होता है तो खुशी होती है। पानी पीया जाता है तो खुशी की बात है। नहीं पीया जाता है तो चिन्ता का विषय है। कोई पढ़ने वाला मिले तो सही। जो पढ़ेगा, वही पढ़ाना सीखेगा।''

ऑडिट वाले उल्टे हमें चाय पिला गए। हमने उद्दंडता की, उन्होंने कृपा। वे ज्यादा उदार निकले।

प्रो. जॉन के उस दफ्तर में भी कोई ऑडिट टीम पहुँची। कड़क रही होगी। प्रो. जॉन तो उप-कुलपति बनकर जोधपुर जा चुके थे। कॉलेज शिक्षा निदेशालय से पत्र आया कि आप अमुक पुस्तकें ले गए थे, लौटाइए। मैंने जोश में जवाब दिया, ''पुस्तकें सभी सुरक्षित हैं। उनका उपयोग हो रहा है। आपके वहाँ कोई इनको पढ़ने वाला हो तो वाहक द्वारा हम उन्हें भेज दें। वरना वह भी शिक्षा का दफ्तर और यह भी (शैक्षिक पत्रिकाओं 'शिविरा पत्रिका' और 'नया शिक्षक' जिनका मैं सम्पादन करता था प्रायः राजस्थान माध्यमिक शिक्षा निदेशक के दफ्तर का ही अंग हैं), हम उन्हें अपने रजिस्टर में लिख लेते हैं, आप अपने रजिस्टर से उनका नाम हटा दीजिए। पुस्तकें स्थानांतरिक लिख दीजिए।'' उनका उत्तर कभी नहीं आया। पुस्तकें हमारे दफ्तर में ही रहीं और उनका खूब उपयोग हुआ।

विदेशी पत्रिकाओं में मैं एक किताब की खूब चर्चा पढ़ा करता था 'पिग्मेलियन इन द क्लास रूम'। जयपुर, दिल्ली में पुस्तक कहीं नहीं मिली। छोटा भाई रमेश इंग्लैण्ड गया। वहाँ भी नहीं मिली। संयोग से ब्रिटिश म्यूजियम के पुस्तकालय में उसे किताब नजर आ गई। पूरी किताब की फोटोस्टेट करवाना तब आसान काम नहीं था। फिर भी जितनी सुविधा थी, भाई ने किताब का 'प्रीफेस' फोटोस्टेट करवा के भेज दिया। मैं उसी से निहाल हो गया। बात तीस-बत्तीस वर्ष पुरानी होगी। वह 'प्रीफेस' आज भी संभालकर रखा हुआ है। जब भी देखना होता है दराज से निकालकर देख लेता हूँ, लगता है जैसे लॉकर से निकाल रहा हूँ।

पुस्तक प्रेमियों के बीच पुस्तकों का लेन-देन होता रहता है। ऐसा एक अनुभव जोधपुर का और एक जयपुर का सुनाऊँ। एक सुखदायक है तो दूसरा महा पीड़ादायक। कवि और नामी वकील मरुधर 'मृदुल' बहुत पुराने मित्र हैं। जोधपुर में हम साथ पढ़ते थे। उनसे पचास-पचपन साल पहले एक पतली-सी किताब पढ़ने को ली थी। किताब का नाम तो भूल गया हूँ, लेकिन इतना जरूर याद है कि उसके लेखक 'स्मर्नेव' थे और वह शेक्सपियर पर सोवियत दृष्टि की परिचायक थी। इस कारण महत्त्व की थी, पठनीय थी। मरुधर ने कहा था कि पुस्तक मैं पढ़कर 'ज्वाला' साप्ताहिक के दफ्तर के सामने स्थित हस्तशिल्प की दुकान के काउंटर पर अमुक को पहुँचा दूँ। पुस्तक मैंने वहाँ पहुँचा दी और निश्चिंत हो गया। कई महीनों बाद पता चला कि न तो वह पुस्तक मरुधर को मिली और न वह आदमी अब वहाँ था। आज तक मुझे यह बात सालती है। जब भी मरुधर का फोन आता है, डर जाता हूँ कि कहीं कह न दे, ''म्हारी व्हा किताब कठै?'' नहीं कहेगा, पर इस बात की आशंका तो मुझे प्रेम-भरा मीठा भय जीवन-भर देती रहेगी!

दूसरी बात जयपुर की। जयपुर में वे शिक्षा मन्त्री थे। नाम था मोहन छंगाणी। पढ़ने का गहरा शौक। शिक्षा मन्त्री हुए, उससे पच्चीस-तीस वर्ष पहले उन्होंने मुझे एक किताब दी थी। जूलियस फूचिक की कहानियों के अंग्रेजी अनुवाद का संकलन, जो चेकोस्लोवाकिया का प्रकाशन था। फूचिक की एक किताब 'फाँसी के तख्ते से' मैं हरिकृष्ण सरल की कृपा से गाँव में पढ़ चुका था। इस कारण फूचिक की लिखी कहानियों के उस अंग्रेजी अनुवाद का संकलन मैंने हसरत भरी निगाह से देखा, माँगा, पाया। मेरा तबादला होता रहा और पुस्तक इतनी भायी कि मेरे साथ भ्रमण करती रही। कई वर्ष जयपुर भी रहा। मोहन 'भा' से मिलता भी रहा। लेकिन न उन्होंने पुस्तक माँगी और न मैंने लौटाने का खयाल किया। बरस बीत गए। एक रोज वे बीकानेर आए। पिताजी का बहुत आदर करते थे। मुझसे तो प्रेम था ही। घर मिलने चले आए। उठते-उठते हँसी में उस पुस्तक को याद कर लिया। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा क्योंकि पुस्तक सही-सलामत थी और मुझे अहसास था कि कहाँ रखी है। तत्काल लाकर उनके सामने रख दी। उनकी आँखें आश्चर्य से फैल गईं। बिछुड़ी किताब इतने लम्बे अरसे बाद पलक झपकते पाकर उनके चेहरे पर खुशी की जो लहर आई वह देखने लायक थी।

केशव चन्द्र वर्मा की एक किताब थी 'मनके सुर के'। बड़ी संभालकर रखी थी कि बाद में पढ़ूँगा। अंग्रेजी कविता के विश्लेषण पर एक मित्र से पाई किताब थी 'साउंड एंड संस'। थोड़ी-थोड़ी कई बार पढ़ी, कभी कवर-टु-कवर पढ़ूँगा, ऐसा सोचा करता था। दोनों किताबें, बहुत समय बीता, पता नहीं कहाँ गईं। अभी तक मिल नहीं पाई हैं। कुछ किताबें दोस्तों के पास हैं। कभी जरूरत के वक्त उनकी याद सताती है। हालाँकि कुछ किताबों के बारे में ठीक से यह भी नहीं मालूम कि घर में हैं या बाहर।

जो हो, इधर-उधर हुई किताबें जब मिल जाएँगी तब सोचिए कितना आनन्द आएगा।

(जनसत्ता, 13 सितम्बर, 2009 से साभार)

साहित्य कोलाहल

प्रज्ञाचक्षु

'मीडिया और जनसंवाद' का लोकार्पण

संवाद विशेषज्ञ और भारतीय पुलिस सेवा के वरिष्ठ अधिकारी उदय सहाय और युवा

पत्रकार वर्तिका नन्दा द्वारा संयुक्त रूप से लिखित पुस्तक 'मीडिया और जनसंवाद' का लोकार्पण साहित्य अकादेमी के सभागार में नई दिल्ली, सितम्बर 2009 को किया गया।

सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा आयोजित इस कार्यक्रम की अध्यक्षता वरिष्ठ कवि एवं हिन्दी अकादमी दिल्ली के उपाध्यक्ष प्रो. अशोक चक्रधर ने की।

कार्यक्रम के मुख्य अतिथि नई दुनिया के प्रधान सम्पादक आलोक मेहता ने कहा कि महिलाओं के साथ हुए बलात्कारों और मुम्बई काण्ड की घटना पर वर्तिका नन्दा और उदय सहाय ने जमकर लिखा है।

'मीडिया और जन संवाद' पुस्तक के प्रकाशक महेश भारद्वाज ने अपने सम्बोधन में कहा कि वर्तिका नन्दा और उदय सहाय की यह पुस्तक उनके पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित स्तम्भों का संकलन भर नहीं है बल्कि उन्होंने मीडिया और जन संवाद में प्रस्तुत समूची सामग्री को वर्तमान समय के अनुरूप करते हुए परिष्कृत किया है।

खुदा फिर ऐसा तनवीर दे, जो सबका हबीब हो : भारतरत्न भार्गव

हबीब कभी हार न मानने वाले इन्सान थे। संकल्पों के लिए निरन्तर लड़ते रहना उनकी खासियत थी। उन्होंने अपने नाटकों में हिन्दू और मुस्लिम कट्टरपंथियों पर करारा प्रहार किया। वह मानवता के जबरदस्त हिमायती थे। इसलिए हमेशा सत्ता विरोधी विषयों पर नाटक रचते रहे। उन्होंने जमीनी लोगों को जोड़कर अपना एक व्यक्तिगत मुहावरा बनाया और भारतीय नाट्य परम्परा को समृद्ध किया। ये बातें रंगकर्म समीक्षक और 'रंग हबीब' पुस्तक के लेखक भारतरत्न भार्गव ने महात्मा गाधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के क्षेत्रीय केन्द्र में आयोजित कार्यक्रम 'स्मरण : हबीब तनवीर' के दौरान कही। उन्होंने कहा कि हबीब सैद्धान्तिक नाटककार थे, व्यवसायिक नहीं। अँग्रेजों के आने के बाद भारतीय रंगकर्मी अपनी परम्परा, संस्कृति और विशिष्टता से विमुख होते चले गए किन्तु हबीब तनवीर ने हमेशा अपनी मिट्टी की सोंधी महक और आस-पास के माहौल से सीखा। उनके नाटकों में भरतमुनि के

नाट्यशास्त्र में वर्णित भावों का अनुकीर्तन दिखाई देता है जो उन्हें नाट्यशास्त्र की श्रेष्ठता तक ले जाती है। कार्यक्रम के अध्यक्ष वरिष्ठ नाट्यकर्मी अजित पुष्कल ने कहा कि सृजनात्मकता का क्षेत्रीयता से बहुत गहरा नाता है। भारतीय संस्कृति गरीब गावों में बसती है, हबीब ने इसे हमेशा अपने जेहन में रखा और ग्रामीण पात्रों के माध्यम से थियेटर की भाषा गढ़ी। रंगकर्मी अनिल रंजन भौमिक के अनुसार हबीब साहब के जाने के बाद जो रिक्तता रंगकर्म के क्षेत्र में पैदा हुई है उसे पूरा होने में समय लगेगा। नाट्य कर्मी नन्दन हितैषी ने कहा कि हबीब तनवीर को याद करने का मतलब दलित शौर्य और वनवासी स्थितियों को याद करना है। एक दिन में कोई हबीब नहीं बन सकता इसके लिए वर्षों की कड़ी मेहनत की जरूरत है। उन्होंने मौलिकता और रंगकर्म की बेहतरी के लिए आजीवन प्रयत्न किया। विश्वविद्यालय के विशेष कर्तव्य अधिकारी (संस्कृति) एवं नाट्य लेखक श्री राकेश ने कहा कि हबीब तनवीर ने हमेशा हाशिए के लोगों की वकालत की। वे अन्याय और शोषण के खिलाफ डटकर खड़े रहने वाले रंगकर्मी थे। कार्यक्रम का संचालन क्षेत्रीय केन्द्र के निदेशक संतोष भदौरिया ने किया।

इस अवसर पर सुधन्वा देशपाण्डे की फिल्म 'गाँव का नाव थियेटर मोर नाव हबीब' का भी प्रदर्शन किया गया।

केदारनाथ की कविताओं में देशी ठाट : नामवर सिंह

केदारनाथ अग्रवाल एक क्रान्तिकारी कवि हैं, जिनको पढ़ने के बाद आँसू नहीं गिरते, मुट्ठी

बँधती है। उनकी कविता में आम आदमी का देशी ठाठ दिखाई देता है। उनकी कविता में किसान, मजदूर और हाशिए के तमाम लोगों ने जगह पाई है उनकी कविता में ग्रामीण जीवन की सहज उपस्थिति है। ये बातें वरिष्ठ व ख्यातनाम आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के इलाहाबाद स्थित क्षेत्रीय केन्द्र के 'सत्यप्रकाश मिश्र सभागार' में आयोजित केदार व्याख्यानमाला एक के दौरान कही। उन्होंने कहा कि केदार शब्दों के मामले में मितव्ययी थे। कम-से-कम शब्दों में अपनी पूरी बात कह देते थे। उनकी कविता में स्त्री का सौन्दर्य, शक्ति और सहभागिता दिखाई देती है। इसी आधार पर कुछ लोग उन्हें रोमांटिक कवि कहते हैं। शहरी जीवन की अछूती चीजों को केदार जी अपनी कविता में सलीके से जगह देते हैं। राजनीतिक कविताएँ जनता की जुबान पर चढ़ जाएँ यह आसान काम नहीं है, केदार की कविताएं मजदूर, किसानों की जबान पर चढ़ी है।

केदार व्याख्यानमाला कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे विश्वविद्यालय के कुलपति एवं वरिष्ठ कथाकार विभूतिनारायण राय ने कहा कि केदारनाथ अग्रवाल प्रगतिशील काव्यधारा की त्रयी के महत्त्वपूर्ण रचनाकार थे। विश्वविद्यालय की कोशिश है कि अनेक व्याख्यामालाओं का आयोजन कर हम कविता, कथा और आलोचना के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षरों को केन्द्र में रखकर उनका पुर्नमूल्यांकन करें। यह सुखद संयोग है कि इसकी शुरुआत साहित्य एवं संस्कृति के लिए अपनी अलग पहचान रखने वाले शहर इलाहाबाद से हो रही है।

वामिक जौनपुरी जन जागरण यात्रा

इप्टा, प्रगतिशील लेखक संघ, जन संस्कृति मंच और कलम नाट्य मंच ने 2 नवम्बर से 4 नवम्बर, 2009 तक कैफी के आजमगढ़ से वामिक के जौनपुर तक दर्जनों गाँवों-कस्बों में अपने गीतों-नाटकों के जरिए वामिक जौनपुरी के इंकलाब के सन्देश को आम अवाम तक पहुँचाने की कोशिश की।

वामिक जौनपुरी के 'जन्म शताब्दी वर्ष'

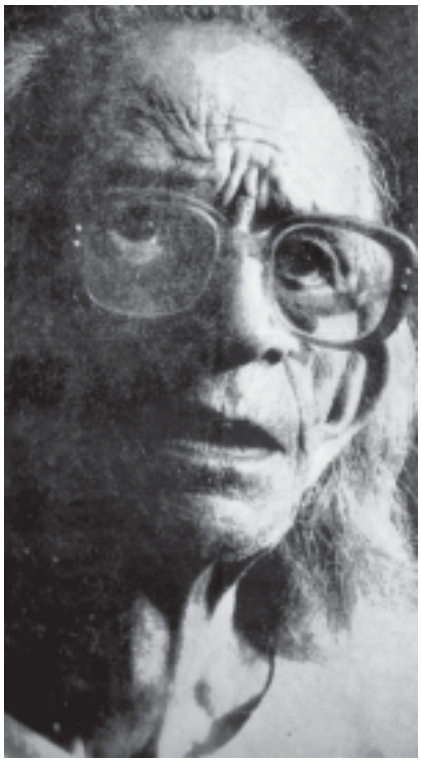

में 'भूखा है बंगाल रे साथी' जैसे अमर गीत के रचयिता वामिक जौनपुरी की सांस्कृतिक विरासत से लोगों से परिचित कराने हेतु यह यात्रा चली थी। वामिक की आवाज हमारे गीतों, नाटकों में उसी तरह थी जैसे ब्रेख्त ने कहा था

क्या जुल्मतों के बाद भी गीत गाये जायेंगे,
हाँ जुल्मतों के दौर के ही गीत गाये जायेंगे

1942-43 में बंगाल में ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा निर्मित अकाल के लाखों पीड़ितों के लिए देशभर के कलाकार राहत सामग्री जुटाने निकल पड़े थे। 1943 में बंगाल में खाद्यान्न की कमी नहीं थी लेकिन लोग भूखों मर रहे थे। आज देश खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर हैं लेकिन अन्न उपजाने वाले लाखों किसान आत्महत्या के लिए अभिशप्त हुए हैं, पर क्या हम लेखक-कलाकारों को इन हत्याओं ने उतना झकझोरा है जितना अखबारों में छपी बंगाल के अकाल की खबरों ने जौनपुर में वामिक को झकझोरा था। वामिक अखबार में छपी खबरें पढ़कर कलकत्ता पहुँच गए और वहाँ उन्होंने तबाही का जो मंजर देखा उस पर 'भूखा है बंगाल रे साथी भूखा है बंगाल' जैसी तारीखी नज्म लिखी।

अपराह्न 2 बजे शिवली एकेडमी के हॉल में 'वामिक जौनपुरी की विरासत' पर आयोजित संगोष्ठी के साथ इस यात्रा की वैचारिक शुरूआत हुई। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग के अध्यक्ष, प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े जाने-माने समालोचक अली अहमद फातमी ने वामिक को कबीर और नजीर की परम्परा का शायर बताते हुए कहा कि वामिक की शायरी में हिन्दी-उर्दू का भेद मिट जाता है। उन्होंने कहा कि 1943 में बंगाल के अकाल पीड़ितों के लिए वामिक ने नज्म सिर्फ लिखी नहीं बल्कि उसे लेकर वह खुद सड़कों पर उतरे।

'इप्टा' के राष्ट्रीय महामन्त्री जितेन्द्र रघुवंशी ने संस्कृति कर्मियों का आह्वान किया कि आज जिस तरह साहित्य-संस्कृति को हाशिये पर धकेलकर उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया जा रहा है, लेखकों-कलाकारों को कबीर, नजीर, प्रेमचन्द, निराला, नागार्जुन, कैफी, वामिक, मखदूम जैसे अदीबों की रचनाओं के साथ जनता के बीच जाना होगा।

इप्टा के प्रान्तीय महामन्त्री राकेश ने कहा कि वामिक की विरासत से आम अवाम के सुख-दुख में शामिल होने की विरासत है।

इप्टा रायबरेली के प्रान्तीय महामन्त्री तथा इप्टा के प्रान्तीय मंत्री संतोष डे ने कहा कि हमारी पीढ़ी से संस्कृतिकर्मी वामिक की विरासत से जुड़कर गौरवान्वित हैं। आजमगढ़ के संस्कृतिकर्मी तहसीन खाँ ने कहा कि वामिक जौनपुरी की शायरी समूचे प्रगतिशील सांस्कृतिक आन्दोलन का प्रकाश स्तम्भ है।

गोष्ठी की अध्यक्षता कर रहे शिवली एकेडेमी के एसोसिएट डायरेक्टर उमर सिद्दीकी ने कहा कि शिवली एकेडेमी से वामिक जौनपुरी की यात्रा की शुरुआत अन्धेरे दौर में रोशनी की शुरुआत है।

शिवली कॉलेज के उर्दू के विभागाध्यक्ष डॉ. शहाबुद्दीन ने तरक्कीपसन्द तहरीक के योगदान पर चर्चा करते हुए कहा कि अवाम से जुड़कर ही वामिक, कैफी, साहिर, फैज जैसे शायरों ने हुस्न को एक नया मयार दिया और इन्सानियत के झण्डे को बुलन्द किया।

गोष्ठी का संचालन इप्टा आजमगढ़ के संरक्षक, आजमगढ़ जनपद में जनान्दोलनों

के जुझारू सिपाही, संस्कृतिककर्मी हरमिन्दर पाण्डे ने किया।

लालगंज तहसील प्रांगण में भाकपा के जिला सचिव हामिद अली ने यात्रा का स्वागत करते हुए कहा कि इस तरह की सांस्कृतिक यात्राओं का क्रम जारी रहना चाहिए। भाकपा के प्रदेश सचिव डॉ. गिरीश ने कहा कि वामिक जौनपुरी के बहाने यह यात्रा किसान-मजदूरों की समस्याएँ उठाने के साथ-साथ फिरकापरस्ती, जातिवाद, रूढ़िवाद और पुनरुत्थानवाद पर भी चोट करती है और प्रगतिशील शक्तियों का यह दायित्व है कि इस जनजागरण अभियान में कलाकारों की पूरी मदद की जाए।

इप्टा लखनऊ का नाटक 'गिरगिट' प्रस्तुत हुआ और अन्त में प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' के अंश का नाट्य रूपान्तर। आजादी के पहले रंगभूमि के पात्र सूरदास की जमीन हड़पने का सवाल आज भी उसी तरह खड़ा है।

दर्शकों की भागीदारी का इससे अच्छा सबूत क्या हो सकता है कि कलाकारों ने 10, 20, 50, 100 रुपये तक के तीन हजार रुपये से भी ज्यादा का इनाम कमाया।

4 नवम्बर, 2009 प्रातः 9 बजे पंवारा से चलकर यात्रा जौनपुर शहर में 'नवाब का हाता' पहुँची और बाद में सीधे वामिक जौनपुरी के गाँव कजगाँव। स्वागत भाकपा के जिला सचिव श्रीकृष्ण शर्मा ने किया। जौनपुर में प्रगतिशील शायरी के गायन के लिए मशहूर अकड़ूँ खाँ ने अस्वस्थता के बावजूद नज्म पेश की। कार्यक्रम का समापन हनीफ खाँ के प्रेरक वक्तव्य से हुआ।

वामिक के सुपुत्र श्री एस.एम.जैदी ने टिप्पणी की मैं तो वामिक की सम्पत्ति का वारिस हूँ लेकिन आज मुझे सचमुच वामिक के असली बड़प्पन का पता लगा। समापन कार्यक्रम में बोलते हुए जनसंस्कृति मंच के राष्ट्रीय महामन्त्री प्रणयकृष्ण ने कहा कि भूमण्डलीकरण के इस हमलावर दौर में वामिक हमें हमारे कर्तव्यों की याद दिलाते हैं।

समापन समारोह की अध्यक्षता प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े जाने-माने लेखक शकील सिद्दीकी ने की। धन्यवाद ज्ञापन भाकपा जौनपुर के महासचिव जयप्रकाश सिंह ने दिया। इस समूची यात्रा की परिकल्पना में इप्टा के प्रान्तीय सचिव मुख्यतार अहमद और शहजाद रिजवी ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। यात्रा में शामिल कलाकारों, भाकपा के समर्पित कार्यकर्ताओं के अथक परिश्रम से ही यह सांस्कृतिक यात्रा सम्भव हो सकी।

लाल कोठी के प्रांगण में, जहाँ आजमगढ़ इप्टा के लोक कलाकारों ने माटी की सुगन्ध बिखेरी वहीं इप्टा आगरा ने यहाँ अपना नाटक 'सात जूते' प्रस्तुत किया और इप्टा लखनऊ ने चेखव की कहानी पर आधारित नाटक 'गिरगिट'। साथ ही चन्द मिनटों में ही इप्टा के राष्ट्रीय महामन्त्री जितेन्द्र रघुवंशी ने लाल कोठी में चल रहे स्कूल के बच्चों से भी एक गीत पर अभिनय कराकर बच्चों को भी यात्रा से जोड़ा। सांस्कृतिक कार्यक्रम का समापन बैजनाथ यादव और जितेन्द्र हरि पाण्डे के 'जोगीरा' गायन के साथ हुआ।

❑

जाने-माने राजनीतिक कार्यकर्ता और लेखक रामबाबू कुमार सांकृत्य की अँग्रेजी में लिखी पुस्तक Beyond globlisation (बीयान्ड ग्लोबलाइजेशन) का लोकार्पण प्रसिद्ध ग़ज़लकार श्री कान्तिमोहन सोज एवं कथाकार तथा समयांतर के सम्पादक श्री पंकज बिष्ट ने विगत दिनों कॉफी हाउस में आयोजित एक अनौपचारिक कार्यक्रम में किया। लेखक का परिचय देते हुए रामजी यादव ने कहा कि रामबाबू एक बेचैन और प्रतिबद्ध कार्यकर्ता रहे हैं और अपनी इन भावनाओं को लगातार उन्होंने कलम के माध्यम से प्रकट किया है। वरिष्ठ आलोचक और पीपुल्स विजन के अध्यक्ष श्री आनन्द प्रकाश ने कहा कि देश के वर्तमान हालात को देखते हुए आज जरूरी है कि लोकतान्त्रिक संस्थानों को जीवंत और समकालीन बनाया जाए। संसद हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण लोकतान्त्रिक संस्था है जो आज जन सरोकारों और मूल्यों के रास्ते से दूर होती जा रही है। लेखकों, विचारकों और कार्यकर्ताओं का यह प्रमुख दायित्व है कि वे इस संस्था को अधिकाधिक लोकतान्त्रिक बनाने की प्रक्रिया तेज करें। 'अपेक्षा' के सहसंपादक श्री वेदप्रकाश ने भी इसी मुद्दे को गम्भीरतापूर्वक समझे जाने पर जोर दिया। कथाकार प्रेमपाल शर्मा ने देश के विभिन्न हिस्सों में चल रहे जन संघर्षों को संवेदनशील ढंग से देखने की बात की। कार्यक्रम में अशोक गुप्ता, जयकृष्ण सिंह, आलोक शर्मा, नितिश शर्मा, दीपक यादव, अनुपम, श्रीमती कान्तिमोहन, अच्युतानन्द मिश्र भी उपस्थित थे।

❑

विगत दिनों महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा में युवा रंगकर्मी हिरण्य हिमकर द्वारा लिखित और निर्देशित नाटक 'तीन तस्वीरें' का मंचन हुआ। यह नाटक खोखली होती जा रही अर्थव्यवस्था और रोजगार-विमुख शिक्षा के छद्म से प्रभावित एक पारिवार की मार्मिक कहानी पर आधारित है। इन परिस्थितियों के कारण विचलन का लगातार शिकार होते मनुष्य और उसकी कार्यशीलता के विखण्डन को इसमें ठीक से दर्शाया गया। हालाँकि स्क्रिप्ट में काफी झोल था और नाटक की एक बड़ी कमजोरी स्त्री विरोधी सामाजिक सोच को जस का तस प्रकट कर देना था लेकिन निम्नवर्गीय सामाजिक संरचनाओं के लंपट और विचारहीन जीवन पर सम्पूर्णता में यह एक व्यंग्य भी था और 'दर्शकों' ने तालियों की गड़गड़ाहट से इसे सराहा भी। सभी कलाकारों ने अपनी भूमिकाओं का ठीक-ठाक निर्वाह किया।

ब्लॉग लोकतन्त्र का पाँचवाँ स्तम्भ : नामवर सिंह

वे अति उत्साह में हैं। उनका आत्मविश्वास उनकी चमकती आँखों से झाँकता है। कुछ नया कर गुजरने का विजयी भाव उनकी

चाल से छलकता है। नई जमीन तोड़ने का गौरवबोध उनकी वाणी से झरता दिखाई देता है। लेकिन वास्तव में वे अपनी जोड़ी हुई जमीन का वास्तविक मूल्य आँकने में जुटे हैं। अपनी मेहनत से नई जमीन में उगाई फसल की गुणवत्ता का जायजा लेने पहुँचे हैं। परती खेत में छाई हुमकभरी हरियाली का सच जानने को उत्सुक हैं। अपने उत्पाद की व्यापक स्वीकृति की तलाश है उन्हें।

बात हो रही है इलाहाबाद में एकजुट हुए हिन्दी चिट्ठाकारी के कर्ता-धर्ताओं की जिन्होंने हिन्दी लेखन का अलग क्षेत्र विकसित किया है। वह भी अपनी मेहनत, हुनर और जज्बे के बल पर। महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के इलाहाबाद स्थित क्षेत्रीय केन्द्र एवं हिन्दुस्तानी एकेडेमी के इस संयुक्त आयोजन 'हिन्दी चिट्ठाकारी की दुनिया' के पहले दिन शहर के तमाम लेखकों, पत्रकारों और बुद्धिजीवियों की उपस्थिति में प्रो. नामवर सिंह एवं कुलपति विभूति नारायण राय ने हिन्दी चिट्ठाकारों के हौसले को दाद दी। उनकी उपस्थिति को चिह्नित किया, साथ ही उन्हें अपनी हद पहचानने की नसीहत भी दी और यह आत्मनियंत्रण से ही सम्भव है। सूचनाओं को निर्बाध पोस्ट करने से लेकर अबाधित स्वतन्त्रता पाते रहने के लिए आत्म नियन्त्रण जरूरी है।

साहित्य की मुख्यधारा से जुड़े लेखक कवि भले हिन्दी ब्लॉगिंग को हेय दृष्टि से देखते हों लेकिन इस दो दिवसीय सम्मेलन के चार सत्रों में 'हिन्दी : ब्लॉग विचार अभिव्यक्ति का नया माध्यम', 'अन्तर्जाल पर हिन्दी भाषा और साहित्य' एवं 'ब्लॉग का तकनीकी पक्ष' पर हुई तर्कपूर्ण बहस द्वारा इस खाई को पाटने का काम अवश्य हुआ। देश के विभिन्न हिस्सों से आए लगभग पैंतीस ब्लॉगरों के अलावा स्थानीय ब्लॉगरों एवं साहित्य प्रेमियों की सक्रिय भागीदारी से ब्लॉग के माध्यम को अधिक लोकप्रिय बनाने और पारस्परिक साहित्य जगत से जोड़ने में मदद मिली।

(प्रस्तुति : रणविजय सिंह 'सत्यकेतु', इलाहाबाद)

मनुष्यता की सभ्यता का नाम है गाँधी : सुचेत गोइन्दी

गाँधी की सभ्यता आत्मा को जोड़ने की सभ्यता है। मनुष्यता की सभ्यता है। जिसका

मूलमन्त्र संयम है। आज हम वाणिज्यमूलक संस्कृति में जी रहे हैं, अभी भी समय है कि सभ्यता को अपना मालिक न बनने दें। उक्त विचार गाँधीवादी चिन्तक डॉ. सुचेत गोइन्दी ने महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के इलाहाबाद स्थित क्षेत्रीय केन्द्र द्वारा आयोजित 'हिन्द स्वराज और सभ्यता विमर्श' विषयक गोष्ठी में व्यक्त किए। आधुनिक युवा को परिभाषित करते हुए व्यंग्यात्मक अन्दाज में उन्होंने कहा कि कौन से युवा के पास गाँधी को पहुँचाया जाए? मैकाले का युवा नकारात्मक की भावना से प्रेरित है, वह मानवीय सभ्यता को नकारता है। गाँधी की सोच मनुष्यता के लिए थी। हम जिस बिन्दु पर आज खड़े हैं, वहाँ गैर-बराबरी और बेरोजगारी मुँह बाए खड़ी है। जब मनुष्य ही नहीं रहेगा तो विकास किसके लिए होगा। गाँधी भवन, इलाहाबाद के निदेशक डॉ. एम.पी. दुबे ने कहा कि गाँधी अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में जिस सभ्यता की हिमायत करते हैं, वह आज दूर की कौड़ी है। बी.एच.यू. के प्रो. दीपक मलिक ने कहा कि गाँधी पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और इजारेदारी के खिलाफ युद्ध करने वाले योद्धा थे।

हंगामे पे हंगामा

पिछले दिनों दिल्ली के त्रिवेणी समाचार में 30वें भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार दिए जाने के अवसर पर प्रकाशित पुस्तक 'उर्वर प्रदेश-3' में संकलित विष्णु खरे की लम्बी भूमिका से एक बड़ा विवाद उठा। इस भूमिका ने न केवल इस पुरस्कार को अविश्वसनीय और संदिग्ध बना दिया है बल्कि कुछ पुरस्कृत कवियों को भी कठघरे में खड़ा कर दिया है। सम्भवतः हाल के वर्षों में यह पहली बार हुआ है कि किसी आलोचक ने समकालीन कविता का वस्तुपरक मूल्यांकन किया है। हैरानी की बात यह है कि यह खुद निर्णायक मण्डल के वरिष्ठ सदस्य कवि विष्णु खरे ने किया है। इस बीच निर्णायक मण्डल का जिस तरह पुनर्गठन किया गया है, खरे को बाहर किया गया। वह विश्वास नहीं जगाता, बल्कि पुरस्कार की संदिग्धता में इजाफा करता है।

(प्रस्तुति : डॉ. निधि सिंह, इलाहाबाद)

जन्मदिन की शुभकामनाएँ

अक्टूबर

1. बद्रीनारायण 5 अक्टूबर 1965
2. स्वप्निल श्रीवास्तव 5 अक्टूबर 1954
3. विनोद भारद्वाज 8 अक्टूबर 1948
4. दूधनाथ सिंह 17 अक्टूबर 1936
5. निर्मला जैन 31 अक्टूबर 1931

नवम्बर

1. विजय कुमार 11 नवम्बर 1948
2. कैलाश वाजपेयी 11 नवम्बर, 1936
3. रवीन्द्र कालिया 11 नवम्बर 1938
4. गगन गिल 18 नवम्बर 1959
5. विभूतिनारायण राय 28 नवम्बर 1950

दिसम्बर

1. डॉ. सियाराम तिवारी 5 दिसम्बर 1934
2. संजय कुंदन 7 दिसम्बर 1969
3. विमल कुमार 9 दिसम्बर 1960
4. बोधिसत्व 11 दिसम्बर 1968
5. सुधीश पचौरी 19 दिसबर 1948
6. प्रभाकर श्रोत्रिय 19 दिसम्बर 1938
7. इंतिजार हुसैन 21 दिसम्बर 1925
8. धीरेन्द्र अस्थाना 25 दिसम्बर 1956

email : chakshu.pragya@gmail.com

जन-सिनेमा के दो बड़े आयोजन हैं...

कुबेर दत्त

नवम्बर 09 में जन-सिनेमा के दो बड़े आयोजनों की धूम रही। जन संस्कृति मंच ने 7 और 8 नवम्बर को एन.एस. थापा और नेत्रसिंह रावत की याद में शैले हॉल, नैनीताल क्लब, मल्लीताल, नैनीताल में 'प्रतिरोध का सिनेमा' नाम से पहला नैनीताल फिल्म उत्सव आयोजित किया। इस उत्सव की परिकल्पना जहूर आलम ने की थी और इसके संयोजन में फिल्म निर्देशक/लेखक संजय जोशी ने विशेष भूमिका निभाई। इस मौके पर फिल्म-पोस्टरों और चित्रों की एक प्रदर्शनी भी लगाई गई जिसके क्यूरेटर प्रसिद्ध चित्रकार अशोक भौमिक थे।

इस फिल्म-उत्सव के बारे में कुछ लिखने से पहले उनके बारे में कुछ कहना चाहूँगा, जिनकी स्मृति में यह आयोजित हुआ।

एन.एस. थापा (नारायण सिंह थापा): लमबाटा का लड़का

नारायण सिंह के दादा उत्तम सिंह ने पिथौरागढ़ (उत्तराखण्ड) जिला मुख्यालय के करीब गढ़-मानले गाँव में एक घर बसाया था जिसे नाम दिया गया 'लमबाटा'। लमबाटा का मतलब हुआ 'लम्बा रास्ता'। मतलब यह कि मुख्य गाँव, स्कूल, पोस्ट ऑफिस, अस्पताल और रेलवे स्टेशन सब दूर-दूर थे।

एन.एस.थापा की माँ बचपन में अनाथ थी, जिसे एक पण्डित ने पाला-पोसा। बड़ी होने पर कुछ सिक्के देकर गजै सिंह ने वह लड़की अपना ली और सादगी के साथ उससे विवाह कर लिया। उसका नाम था जसुली देवी। इसी की चौथी सन्तान था बालक नारायण सिंह, जिसका जन्म 1925 की सर्दियों में हुआ।

उनकी प्रारम्भिक पढ़ाई का दौर तकलीफों से भरा था। कक्षा 2 तक की पढ़ाई गाँव से करने के बाद उन्हें गढ़ीगाँव के अपर प्राइमरी स्कूल में भेजा गया। गढ़ीगाँव में दो साल पढ़ाई के बाद प्राइमरी की अन्तिम परीक्षा के दिनों में बालक नारायण सिंह तेज बुखार में तप रहा था। शरीर बेदम। उसे अपने चाचा लक्ष्मण सिंह की मदद मिली और वे उसे पीठ पर बिठाकर परीक्षा केन्द्र में ले गए और उसी तरह वापस लाए। परिणाम आया। बालक परीक्षा में पास हो गया। लेकिन आगे अन्धेरा था।

एक दिन दोपहर में डाकिया एक चिट्ठी लेकर आया। यह चिट्ठी बालक नारायण सिंह के लिए वरदान सिद्ध हुई। हुआ यूँ कि उसके चाचा हवलदार मेजर तेज सिंह, जो परिवार के एकमात्र कमाऊ सदस्य थे, 2/10 गुरखा राइफल्स से रिटायरमेंट लेकर घर पहुँचे थे। डाकिया उन्हीं के नाम पत्र लेकर आया था। इस पत्र में उनके रिटायरमेंट के निरस्त होने की सूचना थी और उन्हें शिलांग स्थित ट्रेनिंग सेन्टर में काम पर वापस लौटने की हिदायत दी गई थी एक पदोन्नति के साथ। उन्हें नायब सूबेदार बना दिया गया था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपने बड़े भाई यानी नारायण सिंह के पिता को चिट्ठी लिखी कि आगे की पढ़ाई के लिए बालक को वहाँ भेज दिया जाए। इस तरह बालक नारायण सिंह शिलांग पहुँच गया और उसे वहाँ के आर्य समाज स्कूल में प्रवेश मिल गया।

यहीं से नारायण की मैट्रिक की पढ़ाई पूरी हुई। किशोर नारायण ने भी अपने चाचा की तरह ही सेना में भर्ती होने का फैसला किया और वह 2/10 गोरखा राइफल्स में रंगरूट की हैसियत से भर्ती हो गया और उसे शिलांग के निकट हैप्पी वैली में गुरखा राइफल्स के प्रशिक्षण केन्द्र में भेज दिया गया।

वह पढ़ाकू बहुत था। रात में जब सोने के लिए बैरकों की बत्तियाँ बुझ जातीं तो वह कम्बल के अन्दर टॉर्च की रोशनी में किताबें पढ़ा करता। एक दिन वह इसी तरह चार्ल्स डिकेन्स की पुस्तक 'ए पैसेज टु इण्डिया' पढ़ रहा था कि ड्यूटी ऑफीसर शेल्टन डगलस चेकिंग के लिए निकला। एक बिस्तर पर कम्बल के भीतर रोशनी देख उसने कम्बल उलट दिया। रंगरूट तो घबड़ा गया लेकिन अफसर खुश हुआ। अगले ही दिन उसने नारायण को अँग्रेजी कविताओं की एक किताब भेंट की।

ट्रेनिंग पूरी हुई। शपथ-समारोह सम्पन्न हुआ। शपथ के पहले गुरखा राइफल्स के कमांडेंट कर्नल कैरूथर्स ने परेड का निरीक्षण किया। नारायण पर नजर पड़ने पर उन्होंने पूछा 'यह लड़का कौन है? दूसरे गोरखा जैसा नहीं दिखता?' उन्हें बताया गया कि वह नायब सूबेदार तेजसिंह थापा का भतीजा है।

फरवरी 1943 को उसे अँग्रेजी भाषा-शिक्षण के लिए पंचमढ़ी के आर्मी एजुकेशन स्कूल में भेजा गया। शान्तिकाल में एडिनबर्ग यूनिवर्सिटी में अँग्रेजी के प्रोफेसर रहे कैप्टन मैककॉर्मिक उसके अध्यापक बने। उन्होंने अँग्रेजी साहित्य में उसकी रुचि जगाई। पंचमढ़ी से वह प्रशिक्षित अँग्रेजी अध्यापक बनकर वापस लौटा।

इस बीच नारायण के जीवन में कुछ और घटने के बानक बन रहे थे। युद्ध तो चल ही रहा था। बर्मा के मोर्चे पर लड़ने वाले 70 फीसदी भारतीय थे पर अधिकांश लोगों को यह पता नहीं था। ब्रिटिश और

अमरीकी युद्ध संवाददाता महज अंग्रेज सैनिकों के बारे में लिखते थे, भारतीय सैनिकों की उपेक्षा करते थे। 1943-44 में भारत का सैन्य नेतृत्व जागा और उसने महसूस किया कि भारतीय सैन्यकर्मियों को काम्बेट कैमरामैन के रूप में बर्मा और इतालवी मोर्चों पर लड़ रही भारतीय सेना के साथ भेजा जाना चाहिए।

नारायण को विशेष अभियान के लिए चुना गया। उसे कलकत्ता के पब्लिक रिलेशंस स्कूल ऑफ सिनेमाटोग्राफी में रिपोर्ट करने का आदेश हुआ ताकि वह युद्ध-फोटोग्राफर बन सके।

नारायण सिंह थापा को एक व्यावसायिक परीक्षा से गुजरना पड़ा और वह एक जंगी कैमरामैन के अतिरिक्त वायसराय के कमीशन का हकदार बन गया। उसे एक प्रेस कॉर्ड दिया गया जिस पर दक्षिण-पूर्व एशिया के सुप्रीम कमांडर लॉर्ड माउंटबेटन के हस्ताक्षर थे। इस कॉर्ड से उसे अग्रिम मोर्चों तक जाने और शूटिंग करने व सूचनाएँ इकट्ठा करने के अति विशिष्ट अधिकार मिल गए।

देश आजाद हुआ। एक बार एक दुर्गम इलाके में सेना के बीच पं. जवाहरलाल नेहरू पहुँचे तो उन्हें एन.एस. थापा की उच्च योग्यताओं और क्षमताओं के बारे में पता चला। वे थापा से मिले और उनसे कहा 'तुम फिल्मस् डिविजन में जाओ। अब वहाँ तुम्हारी ज्यादा जरूरत है।'

एन.एस. थापा फिल्मस् डिविजन में आ गए और 31 मार्च 1983 को चीफ प्रोड्यूसर पद से सेनानिवृत्त हुए। एफ.डी. में रहते हुए उन्होंने भारत के पहाड़ी क्षेत्रों और वहाँ के दुर्गम इलाकों में रहने वाले जन साधारण तथा उनकी परम्परागत कलाओं पर अनेक फिल्में बनाईं। ये फिल्में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म महोत्सवों में खूब सराही गईं। उन्हें अनेक प्रतिष्ठित पुरस्कार भी मिले। पहले नैनीताल फिल्म उत्सव में उनकी फिल्म 'एवरेस्ट' दिखाई गई। इसे भी अनेक पुरस्कार मिले थे।

सृजनशीलता के नए आयामों का सर्जक : नेत्रसिंह रावत

सब जानते हैं कि नेत्रसिंह रावत एक प्रतिष्ठित पत्रकार थे। यही नहीं, दो और विशेषताएँ उनके साथ जुड़ती हैं एक, पहाड़ी जीवन के लिए असमाप्त तड़प, दो, फिल्म-समीक्षा को नई भाषा देने वाला समीक्षक-बौद्धिक। पहाड़ी मित्रों के बीच वे 'नेत्तर दा' थे।

उत्तराखण्ड के सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक विभिन्नताओं वाले भोटांतिक क्षेत्र की जोहार घाटी के मिलम गाँव से नेत्रसिंह रावत का सम्बन्ध था लेकिन उनका जन्म उनके ननिहाल गनघर गाँव में 23 जून 1938 को हुआ था। उनके प्रारम्भिक जीवन के बारे में शेखर पाठक बताते हैं ''नेत्रसिंह रावत का दूसरा गाँव कमेड़ीदेवी के पास थाला (अब जिला बागेश्वर) था जहाँ जोहार क्षेत्र छोड़कर उनके पिता आ गए थे। प्रारम्भिक शिक्षा जोहार और कमेड़ीदेवी से प्राप्त करके उन्होंने सी.आर.एस.टी. इन्टर कॉलेज, नैनीताल से माध्यमिक और डी.एस.बी. कॉलेज से बी.ए. किया। परिवेश गरीबी और अभावों का था। काफी भटकने के बाद उन्होंने सोचा, यहाँ से बाहर निकलना होगा।''

वे पहाड़ छोड़कर मैदान में भटके और अन्ततः दिल्ली आ गए। काफी मशक्कत के बाद उन्हें टाइम्स ऑफ इण्डिया समूह में नौकरी मिल गई। प्रूफरीडरी से शुरू करके सम्पादकीय विभाग तक पहुँचे। बम्बई में अज्ञेय जी ने उनकी प्रतिभा को पहचाना और उन्हें 'दिनमान' (दिल्ली) में ले आए जिसमें वे एक दशक रहे।

'दिनमान' में उन्होंने नई शैली की गम्भीर फिल्म समीक्षाएँ लिखनी शुरू कीं, जिन्होंने सबको चौंकाया। उन्होंने हिन्दी, बांगला और विश्व सिनेमा पर बेजोड़ फिल्म समीक्षाएँ दीं और नया पाठक वर्ग बनाया। 1978 की शुरूआत में रावत दूरदर्शन के दिल्ली केन्द्र में सहायक केन्द्र निदेशक बनकर आए और थोड़े ही समय में उनकी प्रतिभा ने रंग जमाना शुरू कर दिया। जब पंजाब भयंकर अशान्ति से गुजर रहा था, उन्होंने कई विशिष्ट फीचर बनवाए और खुद भी बनाए। फिल्म-निर्माण का किंचित अनुभव उनके पास पहले से ही था। 1974 में उन्होंने पहले 'असकोट आराकोट अभियान' पर एक छोटी फिल्म बनाई थी। दूरदर्शन में रहते हुए उन्होंने एक जो सर्वाधिक चर्चित फिल्म बनाई थी वह थी 'माघमेला', जो ऋत्विक घटक-शैली में बनाई गई थी। जिसमें कुमाऊँ जनपद की जन-संस्कृति के अनेक आयाम सामने आते हैं।

'नवभारत टाइम्स' और 'दिनमान' में रहते हुए, बल्कि दूरदर्शन-काल में भी उन्होंने अनेक उपेक्षित, अलक्षित और वर्जित समझे जाने वाले विषयों, क्षेत्रों, व्यक्तियों, समाजों और विषयों पर लिखा और कार्यक्रम-निर्माण कराए। रघुवीर सहाय के सान्निध्य में रहते उन्होंने अनेक सामाजिक-राजनैतिक आन्दोलनों पर केन्द्रित 'दिनमान' के विशेषांकों के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान किया। 'मेरे गाँव का चित्र' जैसे गैर पेशेवर, लेखकों-पत्रकारों के द्वारा लिखी गई लेखमाला नेत्र सिंह रावत और रघुवीर सहाय के ही कारण सम्भव हो सकी। सूखा, बाढ़, चिपको आन्दोलन, पहाड़ में शराब-माफिया, बड़े बाँधों का कहर आदि विषयों पर भी उन्होंने खूब लिखा।

वे एक पारम्परिक घुमक्कड़ से अधिक कुछ थे। उन्होंने स्तरीय और लाभकारी यात्रा-वर्णन लिखे। उनकी सबसे उल्लेखनीय और अवस्मिरणीय यात्रा 1986 में अपने जोहार की थी। दिल्ली से मुनस्यारी तक पंकज बिष्ट के साथ और उससे आगे अपनी पत्नी मीना के साथ गए थे। ऊपरी जोहार की, नेत्रसिंह रावत द्वारा की गई वह अन्तिम यात्रा थी। इस यात्रा पर उन्होंने 'दिनमान' में धारावाहिक लिखा था। 1982 में यह यात्रा पुस्तक रूप में आई और 2002 में पुनः प्रकाशित हुई। इसका शीर्षक है 'पत्थर और पानी'।

नेत्रसिंह रावत के स्वभाव में कई परस्पर विरोधी रंग थे। कभी-कभी वे उत्तेजित भी हो जाते थे और अँग्रेजी बोलने लगते थे; कभी अत्यन्त भावुक होकर रोने लगते थे। हँसोड़ तो वे परले दर्जे के थे और अपना व दूसरों का मजाक भी सहज ही उड़ा लेते थे। फिर भी मैंने उनका कोई विरोधी कभी नहीं देखा। मेरे और मेरी सहधर्मिणी के साथ नेत्रसिंह रावत की अनेक बैठकियाँ हुई थीं। वे यादें तो सुरक्षित हैं फिर कभी...।

...तो इन दो अनूठे व्यक्तियों की स्मृति को समर्पित था 'पहला नैनीताल' फिल्म उत्सव, जिसे शीर्षक दिया गया था 'प्रतिरोध

का सिनेमा'। 7 और 8 नवम्बर 2009 को कुल पाँच सत्रों में यह उत्सव सम्पन्न हुआ। फिल्म समारोह के उद्घाटन समारोह में फिल्म-उत्सव पर आधारित स्मारिका का विमोचन हुआ और निर्देशक एम.ए. सथ्यू की फिल्म 'गर्म हवा' दिखाई गई। उसी दिन शाम के सत्र में वीरेन डंगवाल के काव्य संग्रह 'स्याही ताल' का विमोचन हुआ और 3 फिल्मों का प्रदर्शन भी। फिल्में थीं 1. 'आखिरी आसमान', निर्देशक अजय भारद्वाज; 2. 'एक मिनट का मौन', निर्देशक अजय भारद्वाज; 3. मॉर्डन टाइम्स, निर्देशक चार्ली चैप्लिन।

मुक्तिबोध स्मृति फिल्म एवं कला-उत्सव

श्रमिकों के जीवन-संघर्ष पर केन्द्रित यह फिल्म और कला उत्सव मुक्तिबोध की स्मृति में आयोजित थीं, तो मुक्तिबोध की पंक्तियाँ याद आना स्वाभाविक है 'तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सभी/अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे।'

इस फिल्म उत्सव के उद्घाटन सत्र में और शुरू में ही यह शिद्दत से महसूस किया गया कि पिछले 20 वर्षों से नई आर्थिक नीतियों और भूमण्डलीकरण के नाम पर नव आर्थिक साम्राज्यवाद ने सबसे ज्यादा मजदूरों, किसानों, आदिवासियों और कामगारों के साथ-साथ जनसाधारण को नुकसान पहुँचाया गया है। वे सब हाशिये पर ढकेल दिए गए हैं।

इस मौके पर ज.सं.म. की दुर्ग-भिलाई इकाई के अध्यक्ष कैलाश बनवासी ने कहा

''...इधर संस्कृति-कर्म की आड़ में शासन के सहयोग से अपना स्वार्थ पूरी बेहयाई से साधने वाले छद्म संस्कृतिकर्मियों की मौज है, जिनका मुख्य उद्देश्य सत्ता को प्रसन्न करना और अपने लिए पैसे बनाना है। वास्तविक सांस्कृतिक सरोकारों से विमुख, चाटुकार और स्वार्थी संस्कृतिकर्मियों की कतार लम्बी हो गई है। ऐसे में हमारा यह आयोजन मुँहतोड़ जवाब है।''

(जन संस्कृति मंच, दुर्ग, भिलाई, रायपुर),
सहयोग : भिलाई इस्पात संयत्र

समाज के प्रति कमिटमेंट ही फिल्मकार को व्यावसायिक सिनेमा से अलग करता है *एम.एस. सथ्यू*

पवन मेराज : 'गर्म हवा' 1974 में रिलीज हुई और फिर 35 साल बाद इसे गोरखपुर फिल्म-महोत्सव में दिखाया गया। आज 'गर्म हवा' की क्या प्रासंगिकता है?

एम.एस. सथ्यू : कभी-कभी ऐसी फिल्में बन जाती हैं जो अपने मायने कभी नहीं खोतीं। वैसे भी आजकल हम धर्म, जाति और क्षेत्रीयता को लेकर अधिक संकीर्ण होकर सोचने लगे हैं। इन सब सच्चाइयों को देखते हुए 'गर्म हवा' की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

पवन : ऐसे समय में कला की समाज के प्रति क्या जिम्मेदारी बनती है?

एम.एस.सथ्यू : समाज के यथार्थ को सामने लाना ही कला की मुख्य जिम्मेदारी है। मैं इस बात का हामी नहीं कि कला सिर्फ कला के लिए होती है। कला के सामाजिक सरोकार भी होते हैं।

पवन : लेकिन व्यावसायिक सिनेमा भी तो यथार्थ को अपनी तरह से सामने लाता है फिर समानान्तर सिनेमा इससे अलग कैसे?

एम.एस.सथ्यू : वे बेसिकली पैसा बनाते हैं। उनके लिए समस्याएँ भी बिकाऊ माल हैं। गरीबी से लेकर विधवा के आँसू तक के हर सेंटीमेंट को एक्सप्लाइट करते हैं। समस्याओं को देखने का नजरिया, समाज के प्रति कमिटमेंट ही समानान्तर सिनेमा को व्यावसायिक सिनेमा से अलग करता है।

पवन : अपने ट्रीटमेंट में 'गर्म हवा' कैसे अलग है?

एम.एस.सथ्यू : देखिए, पहली बात तो ये कि हम एक विचारधारा से जुड़े हुए लोग थे। इसलिए यह फिल्म बन पाई। पूरी फिल्म इस्मत चुगताई की एक कहानी से प्रभावित है। एक पात्र राजेन्द्र बेदी की कहानी से भी प्रेरित था। आपको हैरानी होगी कि पूरी फिल्म आगरा और फतेहपुर सीकरी में शूट की गई। इसमें बनावटी चीज कुछ भी नहीं है। आज इस तरह सोचना भी मुश्किल है। आज की फिल्मों में भी बहुत बनावटीपन है। कहानी हिन्दुस्तान की होती है, शूटिंग विदेश में...(हँसते हुए) शादियाँ तो ऐसे दिखाई जाती हैं गोया सारी शादियाँ पंजाबी शादियों की तरह ही होती हैं। इस फिल्म में दृश्यों की अर्थवत्ता और स्वाभाविकता को बनाए रखने के लिए कम-से-कम सोलह ऐसे सीन हैं, जिसमें एक भी कट नहीं है। कैमरे में कलात्मक मूवमेंट द्वारा ही यह सम्भव हो सका। आज के निर्देशक ऐसा नहीं करते।

पवन : बिना कट किए पूरा सीन फिल्माना तो कलाकारों के लिए भी चुनौती रही होगी?

एम.एस.सथ्यू : वे सब थियेटर के मंजे हुए कलाकार थे, जिन्हें डायलॉग से लेकर हर छोटी से छोटी बात याद रहती थी...यहाँ तक कि यह भी कि कितने कदम चलना है और कब घुसना है...रंगमंच का अनुभव कलाकारों को परिपक्व बना देता है, इसलिए कभी कोई दिक्कत पेश नहीं आई।

पवन : इस फिल्म के उस मार्मिक सीन में जब नायिका मर जाती है तो पिता के रोल में बलराज साहनी के आँखों से कोई आँसू नहीं गिरता और यह बात दुख को और भी बढ़ा देती है?

एम.एस.सथ्यू : असल में बलराज जी की जिन्दगी में भी ऐसा ही कुछ हुआ था। उनकी एक बेटी ने आत्महत्या कर ली थी। बलराज उसकी अंत्येष्टि से लौटकर आए थे और उन्होंने कुछ इसी तरह सीढ़ियाँ चढ़ी थीं जैसा फिल्म में था। बलराज उस समय इतने अवसन्न हो गए थे कि रो भी नहीं पाए थे। उस वक्त उनसे पारिवारिक रिश्तों के चलते मैं वहीं था। इसलिए मैंने सिर्फ इतना कहा कि इस सीन में रोना नहीं है.. .बलराज समझ गए और उन्होंने जो किया वो आपके सामने है।

पवन : इस फिल्म का अन्त बहुत सकारात्मक था।

एम.एस.सथ्यू : दरअसल यह भी बलराज जी का योगदान था। उन्होंने ही इस तरह के अन्त को सुझाया। वे बहुत समर्थ कलाकार थे। 'दो बीघा जमीन', 'गर्म हवा' और दूसरी कई फिल्मों में अपने शानदार अभिनय के बावजूद उन्हें कभी नेशनल अवार्ड नहीं मिला तो सिर्फ इसलिए क्योंकि वे

कम्युनिस्ट पार्टी के मेम्बर थे। हम डेमोक्रेसी में रहते हैं फिर भी ऐसी बातें हो जाया करती हैं।

पवन : फिल्म रिलीज होने के बाद खुद बलराज जी की क्या प्रतिक्रिया थी?

एम.ए.सथ्यू : दुर्भाग्य से वो यह फिल्म रिलीज होने तक जिन्दा नहीं रहे। फिल्म के अन्त में जब वे कहते हैं कि मैं इस तरह अब अकेला नहीं जी सकता और संघर्ष करती जनता के लाल झण्डे वाले जुलूस में शामिल हो जाते हैं। यह उनके जीवन का भी अन्तिम शॉट था।

पवन : सत्तर के दशक में कम्युनिस्ट मूवमेंट के उभार से लगभग हर कला, साहित्य और फिल्म प्रभावित रही। 'इप्टा' जैसा सांस्कृतिक आन्दोलन भी चला। लेकिन अब वह उतार पर नजर आता है। ऐसा क्यों?

एम.एस.सथ्यू : देखिए, जहाँ तक मूवमेंट का सवाल है, इसने हमें एक सपना दिया 'बेहतर दुनिया का सपना'। हम सब इससे प्रभावित थे। मैंने पहले भी कहा, आन्दोलन से जुड़े होने के कारण ही हम लोग 'गर्म हवा' बना सके। लेकिन यह ग्लोबलाइजेशन का दौर है और हम बदलती परिस्थितियों के हिसाब से खुद को नया नहीं बना सके, इसलिए ऐसा हुआ। मार्क्स ने भी कहा था 'यह परिवर्तन का दौर है। हमें इस तरफ भी सोचना होगा।'

पवन : समानान्तर सिनेमा के सामने आज कौन-सी चुनौतियाँ हैं?

एम.एस.सथ्यू : फिल्म बनाना एक महँगा काम है। इसके लिए स्पांसर और प्रोत्साहन की जरूरत होती है। 'लगान' की चर्चा ऑस्कर में जाने की वजह से भी हुई और इसकी टीम ने फिल्म को वहाँ प्रदर्शित करने में करोड़ों रुपये फूँक दिए, जिसमें एक नई फिल्म बन सकती थी। मजे की बात यह है कि 'लगान' के पास ऑस्कर में नामांकन का वही सर्टिफिकेट है जो 'गर्म हवा' को आज से 30-45 साल पहले मिला था। यह फिल्म कान फैस्टिवल में भी दिखाई गई। और तब ऑस्कर के चयनकर्ताओं ने इसे ऑस्कर समारोह में दिखाने को कहा। मैं सिर्फ पैसे की तंगी के चलते वहाँ नहीं जा सका। हाँ, मैंने फिल्म भेज दी और इसका सर्टिफिकेट मेरे पास पड़ा है।

पवन : क्या पैसे की तंगी ने फिल्म बनाने की प्रक्रिया में बाधा डाली?

एम.एस.सथ्यू : फिल्में सिर्फ पैसे से नहीं, पैशन से बनती हैं। (मुस्कुराते हैं) लेकिन पैसा भी चाहिए। उस जमाने में 2. 5 लाख निगेटिव बनने में लगा। हमारे पास साउंड रिकार्डिंग के भी पैसे नहीं थे। हम लोग आगरा और सीकरी में शूटिंग कर रहे थे। साउंड रिकार्डिंग का सामान मुम्बई से आता था और उसके साथ एक आदमी भी। इसका 150 रुपया प्रतिदिन का खर्च था और हमारे पास इतने भी नहीं थे। अन्ततः सारी शूटिंग बिना साउंड रिकार्डिंग के ही हुई। फिल्म बाद में मुम्बई जाकर डब की गई। तकरीबन नौ लाख कुल खर्चा आया। पूरी फिल्म में कई कलाकारों में मैं उनका मेहनताना भी नहीं दे सका...मेरे ऊपर बहुत-सा कर्जा हो गया और नौ साल लगे इससे उबरने में।

पवन : इसके अलावा और क्या-क्या समस्याएँ आईं?

एम.एस.सथ्यू : खुद की तारीफ नहीं करना चाहता लेकिन कहूँगा कि बेहतरीन फिल्म बनी थी और मैं समझता हूँ कि समाज पर भी सकारात्मक प्रभाव डालती लेकिन रिलीज के लिए इसे सेंसर सर्टिफिकेट नहीं मिला। कहा गया इससे समाज में तनाव फैल सकता है...इस बकवास पर कोई माथा ही पीट सकता था क्योंकि उस समय तमाम लोग कुछ ऐसा कर रहे थे, जो समाज पर बुरा प्रभाव डाल रहा था। एक साल की जद्दोजहद के बाद इन्दिरा जी ने जब खुद पूरी फिल्म देखी और कहा रिलीज करने दो. ..तब ही इसका रिलीज सम्भव हो पाया... लेकिन यू.पी. में नहीं। (मुस्कुराते हैं)...वहाँ चुनाव होने वाले थे। इस तरह की तैयार फिल्म 74 में सबसे पहले बैंगलोर में रिलीज हो सकी।

'गर्म हवा' जैसी फिल्म कोई रोज नहीं बना सकता। ऐसी फिल्में बस बन जाती हैं, कभी-कभी। 'पाथेर पांचाली', 'सुवर्ण रेखा' जैसी फिल्में हमेशा नहीं बन सकतीं।

❑

मंटो, इस्मत चुगताई, भीष्म साहनी और राही मासूम रजा जैसे कई लेखकों ने विभाजन की त्रासदी का बयान अपने लेखन में किया। इस विषय पर अनेक फिल्में बनीं मगर 'तमस' और 'गर्म हवा' अनूठी कृतियाँ हैं। एक तरह से 'गर्म हवा' और भी हटकर फिल्म थी जिसमें बँटवारे, गर्दोगुबार और कत्लोगारत के बाद छाई कथित शान्ति की गहरी पड़ताल है। एक चीखती-हकलाती खामोशी जिसमें घुटता हुआ आदमी समाज, समय और खुद से भी कुछ अलग होकर अपनी पहचान तलाश करता है। इस फिल्म का अन्त सकारात्मक है।

इन महत्त्वपूर्ण फिल्मों में भागीदार रहे दर्शकों, लेखकों, पत्रकारों, रंगकर्मियों, सिनेकारों, चित्रकारों, संस्कृतिकर्मियों और निर्देशकों के जेहन में इन फिल्मों की छवियाँ लम्बे वक्त तक अपनी अर्थवत्ता को रेखांकित करती रहेंगी।

इस अवसर पर प्रकाशित स्मारिका में कई अच्छे लेख तो हैं ही, प्रदर्शित फिल्मों का विवरण भी प्रकाशित है। भारत यायावर का एक संस्मरणात्मक लेख **'शैलेन्द्र, रेणु और तीसरी कसम'** दिल को छू लेता है। इसमें **'तीसरी कसम'** फिल्म के निर्माण के दौरान आए भयानक कष्टों को झेलते शैलेन्द्र की व्यथा-कथा है। रेणु का संवेदनशील मन है, राजकपूर की अच्छाइयाँ और बेवकूफियाँ हैं और अन्ततः शैलेन्द्र का टूटना है, उनका असामयिक निधन है। शैलन्द्र के जीते जी जो न हो सका वह उनकी मौत के बाद हुआ। शुरू में **'तीसरी कसम'** ठीक से प्रदर्शित न होने के कारण बॉक्स ऑफिस पर असफल हुई लेकिन बाद में वह पूरे देश में भारी सफलता के साथ प्रदर्शित हुई। उसे अनेक पुरस्कार मिले। राष्ट्रपति पुरस्कार भी।

बहरहाल, जन-सिनेमा के ये दो आयोजन इस बात के प्रतीक तो हैं ही कि इस बुरे और स्वार्थी दौर में भी ऐसे लोग और संस्थाएँ हैं जिनमें जनपक्षीय सृजनात्मक अलाव जल रहे हैं। यह बड़ी बात है।

159, आकाश दर्शन अपार्टमेंट, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-92, फो. 011-22754845, 09868240906

सेक्स सहित संघर्ष कथा

अनन्त विजय

अपने बारे में दुनिया को क्या पता है या उसे क्या जानना चाहिए इस बारे में गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है *किए सहित सनेह जे अघ, हृदय राखि चेरी, संगत बस किए शुभ, सुनाए सकल लोक निहोरि।* मतलब ये कि परम प्रेमपूर्वक किए प्रचंड पापों को तो हृदय की अंधेरी कोठरी में छिपाकर रखना लेकिन संयोगवश हो गए किसी काम को ढोल पीट-पीटकर लोगों को सुनाना। लेकिन पिछले दिनों जब मशहूर फिल्म अभिनेता ओमपुरी की जीवनी **'अनलाइकली हीरो ओम पुरी'** प्रकाशित हुई तो इस जीवनी में उनके जीवन के विवादित सेक्स प्रसंगों को जमकर उभारा गया। सतह पर देखने से लगता है कि जीवनी लेखिका और ओमपुरी की पत्नी नंदिता पुरी ने ओम की जिन्दगी को प्याज के छिलके के तरह उतारकर रख दिया है लेकिन अगर आप निहितार्थ पकड़ने की कोशिश करेंगे तो ऐसा नहीं है। दरअसल हर विवादित सेक्स प्रसंग के पीछे एक स्थिति और परिस्थिति क्रिएट की गई है ताकि ओम को कठघरे में नहीं खड़ा किया जा सके। एक तरह से नंदिता ने तुलसीदास की उक्ति को बेहद चतुराई से अपनी किताब में चरितार्थ कर दिया है।

जाहिर है इन अंशों के छपते ही विवाद शुरू हो गया क्योंकि इसमें ओम के अपने से बड़ी औरतों के सेक्स सम्बन्धों को प्रमुखता से छापा गया है। साथ ही ओम के अपनी सगी मामी की ओर आकर्षित होने की ओर इशारा भी किया गया है। इन अंशों के अखबारों में छपते ही ओमपुरी लाल-पीले हो गए और जीवनी लेखिका को बुरा-भला कहते हुए यह धमकी तक दे डाली के वह किसी भी कीमत पर इस किताब को छपने नहीं देंगे। लेकिन जैसे-जैसे समय बीता यह बात साफ हो गई कि ये प्रचार पाने के लिए बनाई गई एक सोची-समझी रणनीति का हिस्सा था, जिसमें ओम और नंदिता को एक हद तक सफलता भी मिली। चाहे दिल्ली हो या मुम्बई, ओम हर जगह किताब के विमोचन के वक्त मौजूद रहे और अखबारों और टी.वी. चैनलों पर इंटरव्यू भी दिया। नतीजा यह हुआ कि कई दिनों तक अखबारों और टी.वी. चैनलों पर इस जीवनी की खासी चर्चा होती रही, जिसका असर बिक्री पर भी पड़ा ही होगा।

अब जब यह किताब छपकर सामने आई है तो सारी बातें साफ हो गई हैं। ओमपुरी के सेक्स सम्बन्धों के बारे में इस किताब में ज्यादा कुछ है नहीं। दरअसल नंदिता पुरी ने इस किताब में अपने पति के जीवन के उन पहलुओं को सामने लाने की कोशिश की है जो अब तक आम लोगों के सामने नहीं आ पाया था। अंबाला में पैदा होने वाले ओमपुरी का बचपन बेहद गरीबी में गुजरा। जब ओमपुरी सात साल के थे तो उनके पिता, जो रेलवे स्टोर में इंचार्ज थे, को चोरी के आरोप में जेल भेज दिया गया। जब उनके पिता जेल भेजे गए तो रेलवे ने उनको दिया क्वार्टर भी परिवार से खाली करवा लिया। फटेहाली और तंगहाली में ओम के बड़े भाई वेद ने कुली का काम करना शुरू कर दिया और ओमपुरी को चाय की दुकान पर कप प्लेट साफ करना पड़ा। लेकिन परिवार की मुश्किलें कम नहीं हो रही थीं। खाने के लाले पड़ रहे थे तो सात साल का बच्चा एक दिन एक पण्डितजी के पास गया लेकिन बजाय मदद करने के पण्डित ने सात साल के बच्चे का यौन शोषण किया। एक इस तरह से ओम का बचपन डिस्टर्ब्ड रहा है। ओमपुरी जब चौदह साल के थे तब उनके जीवन में एक टर्निंग प्वाइंट आया। यह वह दौर था जब ओमपुरी का संघर्ष शुरू हो चुका था। उसके आसपास कोई भी हमउम्र लड़की नहीं थी। उसने महिला के रूप में या तो अपनी माँ को देखा था फिर मामी को या फिर मामी के घर काम करनेवाली पचपन साल की महिला शान्ति को। ओमपुरी का पहला शारीरिक सम्बन्ध यहीं बना। जब वो मामा के घर रहकर पढ़ाई कर रहा था तो उन्हें घर की कामवाली के साथ पानी लाने का जिम्मा सौंपा गया। वहीं पर शान्ति ने उसके अंगों से छेड़छाड़ शुरू की। यह सिलसिला चल ही रहा था कि अचानक एक दिन शाम के वक्त पचपन साल की कामवाली ने चौदह

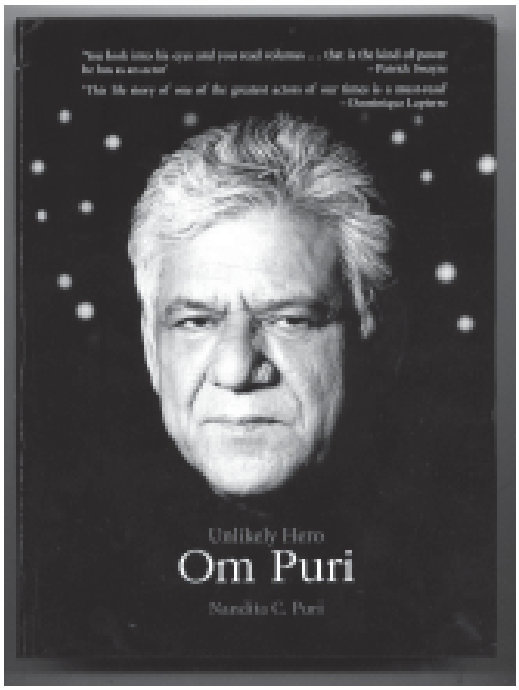

साल के किशोर को दबोच लिया, उस वक्त घर की बिजली गुल थी। उत्तेजित किशोर ने पहली बार अधपके बालों और टूटे दाँत वाली महिला के साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाया। लेकिन यहीं पर ओम ने एक चूक कर डाली। एक दिन रात को जब उनकी छोटी मामी सो रही थी तो उसके अस्त-व्यस्त कपड़ों को देखकर ओम अपने पर काबू नहीं रख पाए और उसने मामी के शरीर को प्यार से सहलाना शुरू कर दिया। अपने शरीर के अंगों के छुए जाने तक तमतमाई मामी उठी और नीचे चली गई। अगले दिन सुबह ओम पुरी जब सोकर उठे तो उनके मामा ने उन्हें एक जोरदार तमाचा रसीद किया और अपने घर से निकाल दिया। एक बार फिर से संघर्ष की राह।

टी.एस. इलियट ने ठीक ही कहा है कि केवल अतीत ही वर्तमान को प्रभावित नहीं करता वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है। इस वक्त ओमपुरी के अतीत को उनका वर्तमान प्रभावित कर रहा था। किसी तरह दोस्तों की मदद और अपने कठिन परिश्रम की वजह से ओमपुरी ने अपनी पढ़ाई पूरी की। यहाँ भी एक दिलचस्प प्रसंग है। यह सन् 1965-66 का दौर था और ओमपुरी लुधियाना में थे एक दिन लुधियाना में सन् 65 के पाकिस्तान युद्ध के विजेताओं का स्वागत देखकर ओमपुरी ने फौजी बनने की ठानी लेकिन उनके पिता ने ओमपुरी के इस सपने पर पानी फेर दिया और कठोरतापूर्वक फौज में जाने से मना कर दिया। ओमपुरी जब नौंवी क्लास में थे तो उनके मन में ग्लैमर की दुनिया में जाने की इच्छा होने लगी। अचानक एक दिन अखबार में उन्हें एक फिल्म के ऑडिशन का विज्ञापन दिखाई दिया और ओम ने उसके लिए अर्जी भेज दी। कुछ दिनों के बाद एक रंगीन पोस्टकार्ड पर ऑडिशन में लखनऊ पहुँचने का बुलावा था साथ ही एंट्री फीस के तौर पर पचास रुपये लेकर आने को कहा गया था। तंगहाली में दिन गुजार रहे ओमपुरी के पास ना तो पचास रुपये थे और न ही लखनऊ आने जाने का किराया, सो फिल्मों में काम करने का यह सपना भी सपना ही रह गया। ये फिल्म थी 'जियो और जीने दो'। एक कहावत है न कि जहाँ चाह वहाँ राह। वक्त के थपेड़ों से जूझते ओमपुरी दिल्ली आते हैं और नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा में एडमिशन ले लेते हैं। लेकिन यहाँ भी हिन्दी और पंजाबी भाषा में हुई अपनी शिक्षा को लेकर उनके मन में जो कुण्ठा पैदा होती है वह उन्हें लगातार वापस पटियाला जाने के लिए उकसाती रहती है। लेकिन उस वक्त के एनएसडी के डायरेक्टर अब्राहम अल्काजी ने ओमपुरी की परेशानी भाँपी और एम.के. रैना को उनसे बात करने और उत्साहित करने का जिम्मा सौंपा। एक बार मन से कुण्ठा गायब हुई और ओमपुरी ने फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा। एनएसडी के बाद ओमपुरी का अगला पड़ाव राष्ट्रीय फिल्म और टेलीविजन संस्थान, पुणे था। यहाँ एनएसडी में बने दोस्त नसीरुद्दीन शाह भी ओम के साथ थे। जैसा कि आमतौर पर होता है कि पुणे के बाद अगला पड़ाव मुम्बई होता है वही ओम के साथ भी हुआ। यहाँ पहुँचकर फिर से एक बार शुरू हुआ फिल्मों में काम पाने के लिए संघर्षों का दौर। यहाँ ओम को पहला असाइनमेंट मिला एक पैकेजिंग कम्पनी के एक विज्ञापन में, जिसे बना रहे थे गोविंद निहलानी। फिर फिल्में मिलीं और ओम मशहूर होते चले गए।

इस किताब में ओमपुरी के व्यक्तित्व का एक और पहलू सामने आता है वह है सेक्स को लेकर ओम का लगाव। ओम के जीवन में कई महिलाएँ आती हैं, लगभग सभी के साथ ओम शारीरिक सम्बन्ध भी बनाते हैं लेकिन विवाह के बन्धन में बँध पाने में असफलता ही हाथ लगती है। ओम की देहगाथा शुरू होती है चौदह साल की उम्र से जब वह पहली बार अपने से चार गुनी बड़ी उम्र की महिला से शारीरिक सम्बन्ध बनाते हैं। उसके बाद भी ओम की जिन्दगी में आने वाली महिलाओं की एक लम्बी फहरिस्त है लेकिन ओम का पहला प्यार रोहिणी थी जिसने बाद में रिचर्ड एटनबरो की फिल्म गाँधी में कस्तूरबा की भूमिका निभाई थी। कालांतर में फिर ओम के जीवन में उसके दोस्त कुलभूषण खरबंदा की दोस्त सीमा साहनी आई। सीमा प्रसिद्ध लेखिका इस्मत चुगताई और फिल्मकार शाहिद लतीफ की बेटी थी। दोनों के बीच लम्बा रिश्ता चला लेकिन ग्लैमर की दुनिया में बिंदास अन्दाज में जीने वाली सीमा को ओम के साथ सम्बन्ध रास नहीं आया क्योंकि वह शादी के बन्धन में नहीं बँधना चाहती थी। फिर उसके जीवन में उनके दोस्त सुभाष की बहन बँगाली बाला माला डे आई। यहाँ भी शादी नहीं हो पाई। उसके बाद ओम का उनके घर में काम करनेवाली की बेटी लक्ष्मी से शारीरिक सम्बन्ध बने। एक समय तो ओम इस लड़की से शादी के लिए तैयार होकर एक मिसाल भी कायम करना चाहते थे लेकिन जल्द ही सर से आदर्शवाद का भूत उतर गया और ओम ने लक्ष्मी से पीछा छुड़ा लिया।

इस बीच ओमपुरी को यश के साथ पैसा भी पर्याप्त प्राप्त हो रहा था। यहाँ लेखिका ने पुरुष मन में उठने वाले भावों, स्थिति विशेष में महिला को लेकर पुरुष मन में जगने वाली शंकाओं और छोटे शहर से मायानगरी में आए एक व्यक्ति के मन के ऊहापोह को भी सामने लाने की कोशिश की है। एक ऐसा व्यक्ति जो ना तो छूटी जिन्दगी को छोड़ पाता है और ना ही चुनी हुई जिन्दगी को अपना पाता है और दोनों ओर खींचा जाकर टूटता जाता है। फिल्म 'अर्धसत्य' ने ओमपुरी की पूरी जिन्दगी बदल दी थी। 'अर्धसत्य' की जो भूमिका ओम ने निभाई थी वे पहले अमिताभ बच्चन को ऑफर की गई थी लेकिन व्यस्तता की वजह से अमिताभ ने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया था और बाद में जो हुआ वह इतिहास है। इसके बाद ओम की जिन्दगी में नंदिता आईं और जीवन को दिशा और स्थिरता भी मिली, यश तो मिल ही रहा था। कुल मिलाकर अगर हम इस जीवनी पर बात करें तो एक साहित्यिक कृति के रूप में यह एक बेहद कमजोर कृति है। जहाँ एक मशहूर फिल्म अभिनेता के संघर्ष की दास्तां को सेक्स की छौंक के साथ मार्केट करने की कोशिश की गई है। अँग्रेजी में जीवनी और आत्मकथा की बेहद लम्बी और समृद्ध परम्परा रही है उसमें यह किताब कुछ भी नया नहीं जोड़ती है। इस पूरी किताब में स्थिति की एक अनिर्णयात्मकता है और एकचित्तता का अभाव नजर आता है।

अनलाइकली हीरो : ओमपुरी/ नंदिता पुरी/ रोली बुक्स, एम-75, ग्रेटर कैलाश, पार्ट-2, नई दिल्ली-110048/ मूल्य-395 रुपये

321-बी, शिप्रा सनसिटी, इंदिरानुरम, गाजियाबाद, (उत्तर प्रदेश) 201014, फोन-9871697248

हिन्दी सिनेमा की उपलब्धियों का दस्तावेज

मुकेश कुमार

भूमण्डलीकरण और पुनरुत्थानवाद के इस सम्मिलित दौर में पुरानी चीजों को पलटकर देखने की एक प्रवृत्ति वर्तमान पर हावी है। इतिहास को बार-बार खँगाला जा रहा है और याद किया एवं याद दिलाया जा रहा है कि हमारा अतीत कितना स्वर्णिम था। 'हम क्या थे और क्या हो गए हैं' वाली दृष्टि पीछा नहीं छोड़ती। यानी इसका एक अनिवार्य-सा निष्कर्ष यह भी निकाला जाता है कि हमारा वर्तमान बहुत बुरा है और अगर भविष्य को संवारना है तो हमें अतीत को वापस लाना होगा। इसके अपने खतरे हैं और वे खतरे हम अपने राजनीतिक-सामाजिक जीवन में साकार होते देख भी रहे हैं। यही वजह है कि अब हममें से अधिकांश पीछे मुड़कर देखने से कतराते हैं और उसकी बात ही नहीं करते, ताकि किसी तरह का भ्रम पैदा न हो। लेकिन अतीत की यात्रा हमेशा नकारात्मक नहीं होती। उससे कई सबक सीखे जा सकते हैं और नया भविष्य रचने की प्रेरणा भी प्राप्त की जा सकती है। बस शर्त यह होती है कि उसे एक आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाए। खतरा तब पैदा होने लगता है जब हम अतीत के महिमामण्डन में रम जाते हैं फिर उसी में रहने की कामना भी करने लगते हैं।

'वसुधा' का सिनेमा विशेषांक ''हिन्दी सिनेमा बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक'' क्या है? अतीत का महिमागान या फिर अच्छे रचनात्मक कार्य का स्मरण और उससे प्रेरणा ग्रहण करने का उपक्रम? वसुधा जैसी प्रगतिशील पत्रिका से अपेक्षा यही की जाती है कि वह किसी भी रचना का मूल्यांकन करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि अपनाएगी। गुजरे समय की उन चीजों को देखने-दिखाने की कोशिश करेगी जो लक्षित होने से रह गई है। इस कसौटी के हिसाब से देखा जाए तो वसुधा का यह महत्त्वपूर्ण प्रयास मिला-जुला ही कहा जा सकता है।

हिन्दी सिनेमा के आकलन की यों तो पहले भी बहुत-सी कोशिशें हुई हैं और लगातार हो रही हैं। कई पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी सिनेमा पर केन्द्रित विशेषांक निकाले हैं। इस विषय पर किताबें भी मिल जाएँगी और कई जगह इस पर शोध भी किए जा रहे हैं। मगर हिन्दी सिनेमा की एक मुकम्मल पहचान अभी भी तय नहीं हो पाई है। तय हो भी नहीं सकती क्योंकि इतनी विविधता को समेटकर उसे एक पहचान देना बहुत ही मुश्किल काम है और शायद ऐसा करना न्यायसंगत भी न होगा। हिन्दी सिनेमा को एक कोलाज के रूप में देखा जाना चाहिए और उसे ही सम्पूर्ण तस्वीर के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। 'आलम आरा' से लेकर 'गुलाल' तक फैले

वसुधा के विशेषांक में यह कोलाज देखा जा सकता है। मगर इस विशेषांक से गुजरते हुए कई चीजें भी दिमाग में आती हैं। खासतौर पर इसलिए कि यह विशेषांक किसी अन्य पत्रिका नहीं बल्कि प्रगतिशील लेखक संघ की पत्रिका वसुधा का है। सर्वप्रथम तो यह कि क्या सार्थक एवं लोकप्रिय सिनेमा के बीच की रेखा पूरी तरह से खत्म हो गई है? एक दशक पहले तक लोकप्रिय सिनेमा के नकारात्मक प्रभावों की आलोचना करने और इस आधार पर उसे खारिज करने का साहस और परम्परा थी। सामाजिक सरोकार एक महत्त्वपूर्ण कसौटी होती थी फिल्मों को जाँचने-परखने की। मगर अब ऐसा लगता है कि इसे छोड़ा जा रहा है, इससे समझौता किया जा रहा है और बॉक्स ऑफिस की शक्ति को स्वीकृति एवं मान्यता दी जा रही है। क्या यह वैचारिक समर्पण है, प्रगतिशील विचारों का स्खलन है, उसमें आई तरलता या शिथिलता है, जिसकी वजह से यह मान लिया गया है कि सार्थक (या कम-से-कम मध्यमार्गी उद्देश्यपरक) सिनेमा की अंत्येष्टि हो चुकी है और जो है वह यही मुख्यधारा का घटिया सिनेमा है? लोकप्रियता को नकारने की बात यहाँ नहीं है, क्योंकि लोकप्रिय बनाने के बाजारू हथकण्डों को आप अनदेखा नहीं कर सकते। मगर जब हम ऐसा करते हैं तो वैचारिकता का प्रश्न अपनी निर्णायक परिणति तक पहुँचता है और यह सवाल खड़ा हो जाता है कि क्या फिल्म सामाजिक हस्तक्षेप का सशक्त माध्यम नहीं रही और उसे उसी रूप में देखा और स्वीकार कर लेना चाहिए जैसा कि वह आज है?

वसुधा के विशेषांक में बहुत सारी उल्लेखनीय बातें हैं। मसलन, इतनी सारी फिल्मों पर इतनी सामग्री शायद ही कभी

किसी पत्रिका ने एक साथ जुटाई हो। अस्सी फिल्मों पर विस्तार से चर्चा की गई है और साथ में छह सौ फिल्मों की जानकारी भी दी गई है (हालाँकि इसके बावजूद बहुत-सी महत्त्वपूर्ण फिल्में रह गई हैं, लेकिन इसकी शिकायत करना उचित नहीं लगता क्योंकि जितना कुछ सँजोया गया है वही कम नहीं है)। निश्चय ही यह बहुत श्रमसाध्य कार्य है। यह एक तरह से अस्सी साल के हिन्दी सिनेमा की यात्रा के महत्त्वपूर्ण पड़ावों की याद दिलाता है। उन तमाम फिल्मों का स्मरण कराता है जिन्होंने अलग-अलग वजहों से भारतीय दर्शकों को प्रभावित किया। यह काम इसलिए भी बड़ा है क्योंकि हिन्दी में फिल्मों पर लिखने वालों की बेहद कमी है। यह दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि इस सशक्त माध्यम से अधिकांश लेखकों ने दूरी कायम रखी है, मानो फिल्मों पर लिखने से वे दोयम दर्जे के लेखक कहलाने लगेंगे। यही वजह है कि हमारे पास फिल्मों पर अच्छा लिखने वालों के नाम उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। जाहिर है कि इस अंक के अतिथि संपादक प्रह्लाद अग्रवाल के लिए इतने सारे लोगों से लिखवाना एक चुनौतीपूर्ण कार्य रहा ही होगा। उन्हें इसका श्रेय दिया जाना चाहिए। मगर उनके श्रम और सीमा का ध्यान रखते हुए भी हम इस सच्चाई से आँखें नहीं मूँद सकते कि संख्या के लिहाज से सबल होने के बावजूद गुणवत्ता की कसौटी पर यह अंक इस पत्रिका के पाठकों की अपेक्षा पर शायद खरा न उतरे।

अंक के अधिकांश लेख अतीत को खँगालने और स्मृतियों को शब्दबद्ध करने का उपक्रम दिखलाई पड़ते हैं। बचपन और किशोरवय में फिल्मों का मायावी आकर्षण और उस बहाने किसी फिल्म पर फिदा हो जाने का किस्सा मानो बार-बार दोहराया गया है। यह दोहराव भी पाठक झेल ले अगर उसे उस फिल्म के कलात्मक पक्ष और महत्त्व के बारे में सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक सन्दर्भों के साथ कुछ अतिरिक्त जानने को मिल जाए, लेकिन इस तरह के लेख बहुत कम हैं। 'दो आँखें और बारह हाथ' पर लिखा गया विश्वनाथ त्रिपाठी का लेख जरूर इस कसौटी पर खरा उतरता है। प्रकाश झा की फिल्म 'दामुल' पर संजय कृष्ण का लेख भी काफी हद तक इस दृष्टि से फिल्म को देखने में सफल रहा है। सत्यदेव त्रिपाठी ने बिमल रॉय की पुरानी और प्रदीप सरकार की नई 'परिणीता' का अच्छा तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनके इस लेख में समय, समाज और उनमें आए परिवर्तन की वजह से नई 'परिणीता' में किए गए फेरबदल का स्पष्टीकरण प्रभावशाली है, मगर उसके फिल्मी अन्त पर कुछ कहने से वे न जाने कैसे चूक गए हैं।

प्रतिष्ठित और फिल्मों के जानकार लेखकों के कुछेक लेख अच्छे हैं, जैसे शरद दत्त का 'रोटी' पर लेख। लेख जानकारियों से भरा हुआ है। मगर इसमें यह बात खटकती है कि यह लेख रोटी का कम निर्देशक मनमोहन देसाई और इस फिल्म के प्रेरणास्त्रोत अनिल विश्वास पर ज्यादा बात करता है। इससे फिल्म के महत्त्व और उसकी खूबियों के बारे में पाठकों को बहुत कुछ जानने को नहीं मिल पाता। कुछ इसी तरह सत्यजित राय की फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी' पर लीलाधर मंडलोई के लेख के साथ भी हुआ है। इसकी भूमिका बहुत लम्बी हो गई है। फिल्म के बारे में जानने के पहले आपको सत्यजित राय की पारिवारिक पृष्ठभूमि के बारे में पढ़ना पड़ेगा और उनके रचना-संसार को भी जानना होगा। इसके बाद नम्बर आता है 'शतरंज के खिलाड़ी' का। इस आलेख का अन्तिम खण्ड ही फिल्म के महत्त्व को रेखांकित कर पाता है।

सिनेमा की दूसरी धारा जिसे, कला, सार्थक या समान्तर सिनेमा आदि के नाम से पुकारा जाता है उसका प्रतिनिधित्व करने वाली कई और फिल्मों का समावेश इस अंक में है। इसमें श्याम बेनेगल की 'अंकुर', मृणाल सेन की 'भुवनसोम', एम.एस. सत्थू की 'गरम हवा' और केतन मेहता की 'मिर्च मसाला' शामिल है। समान्तर सिनेमा के विकास की महत्त्वपूर्ण शुरुआती कड़ी 'अंकुर' पर वैसी सामग्री नहीं है जैसी कि किसी भी जागरूक पाठक को अपेक्षा हो सकती है। इस फिल्म पर बहुत कुछ लिखा गया है, जो पाठकों की नजरों से भी गुजरा होगा, इसलिए लेखक-सम्पादक की दृष्टि में यह बात अवश्य रहनी चाहिए थी कि कुछ अलग और विशिष्ट ढंग से इस फिल्म को देखा जाए। अलबत्ता 'गरम हवा' के साथ इन्साफ जरूर हुआ है। पर्याप्त विस्तार के साथ भारत विभाजन के दौरान मुसलमानों की सामाजिक-मानसिक स्थिति को बताते हुए फिल्म के कलात्मक पक्ष पर रोशनी डाली गई है।

'शोले' के बारे में कीर्ति श्रीवास्तव के लेख में कई दिलचस्प जानकारियाँ दी गई हैं, मगर कोई बताए कि बॉक्स ऑफिस पर अपने संवाद, पटकथा, नाटकीय किरदारों और मनोरंजन प्रदान करने की जबर्दस्त क्षमता की वजह से छा जाने वाली इस फिल्म का आलोचनात्मक विश्लेषण क्यों नहीं होना चाहिए? ठीक है कि शोले की व्यावसायिक कामयाबी हिन्दी सिनेमा के इतिहास में मील का पत्थर है मगर इसकी कालजयी सफलता की कहानी को बार-बार सुनाने से क्या लाभ हो सकता है? कुछ खास तो तब होता जब कामयाबी और मनोरंजन के अलावा दूसरे निकष पर भी इसे कसा जाता। इसी तरह व्यावसायिक सफलता में 'शोले' को भी मात देनेवाली 'जय संतोषी माँ' एक कल्ट फिल्म जरूर बन गई, मगर यदि इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को रेखांकित करने के साथ-साथ इसके सामाजिक-आर्थिक कारणों का विश्लेषण भी किया जाता तो शायद कुछ बात बनती। संयुक्त परिवार के आकर्षण और पारम्परिक शादियों पर आधारित संगीतमयी फिल्म 'हम आपके हैं कौन' हो या फिर अन्तर्राष्ट्रीय बाजार को ध्यान में रखकर बनाई गई फिल्म 'दिलवाले दुल्हनियाँ ले जाएँगे' भी बॉक्स ऑफिस पर हिट रही, मगर वसुधा में अगर इन्हें शामिल न किया जाता तो पाठक भला किस महत्त्वपूर्ण ज्ञान से वंचित रह जाते?

हाल में प्रदर्शित कुछ अच्छी फिल्मों को रेखांकित करके वसुधा ने अच्छा किया है। इस सन्दर्भ में 'ओमकारा', 'ब्लैक फ्राइडे', 'वेलकम टू सज्जनपुर', 'अ वेडनेस डे' आदि पर लिखे गए लेखों का उल्लेख किया जा सकता है। ये फिल्में इस उम्मीद को पुख्ता करती हैं कि घोर बाजारवाद के समय में भी फिल्म की सामाजिक उपयोगिता को ध्यान में रखकर काम करने वाले फिल्मकार आ रहे हैं और अच्छा काम भी कर रहे हैं। पूर्ण समर्पण अभी नहीं हुआ है और इस घनघोर अन्धेरे में भी उजाले की चमक और चाह बाकी है।

सी-1302 एपेक्स ग्रीन वैली, सेक्टर-9, वैशाली, गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश) मो. 9811818858

प्रतिध्वनि

पत्र-प्रतिक्रिया

राजेन्द्र यादव अच्छा सम्पादकीय लिखते हैं। पर बुरे सम्पादक हैं और आप बुरा सम्पादकीय लिखते हैं लेकिन अच्छे सम्पादक हैं।

कृष्ण कल्पित, नई दिल्ली

'पुस्तक-वार्ता' के इस अंक में कान्ति कुमार जैन जी के 'मैं और पुस्तकें' 'स्तंभ तथा विरासत स्तंभ में 'कफन' का पहला पाठ बहुत अच्छे लगे। 'पुस्तकें और मैं' स्तंभ कृपया निरंतर दें। समीक्षाएँ सभी निष्पक्ष लगीं। अशोक पाण्डे की 'लस्ट फॉर लाइफ' का अनुवाद पढ़कर तो इस किताब को ढूँढने निकल रहा हूँ। पुनश्चः 'पुस्तक-वार्ता को इतना अच्छा कर देने हेतु बधाई स्वीकारें। वार्षिक सदस्यता हेतु ड्राफ्ट भेज रहा हूँ।

शशिभूषण बडोनी, मसूरी

'पुस्तक-वार्ता-23 अक्षर-अक्षर पढ़ गया। तुम्हारे सघन साहित्य-अनुराग और साहित्य-विवेक की गहराई ने इस पत्रिका को जीवंत, संग्रहणीय बना दिया है और एक खुला मंच भी।... सबसे पहले 'कवित्त बनावत' वाले प्रेम-पंथ के बनजारे कवि घनानन्द को याद करना अच्छा लगा। कान्ति कुमार जैन ने जो पुस्तकें पढ़ी हैं, वे तो धन्य हैं और वे जिन्हें पढ़ न पाए, उनको धिक्कार है। शम्भु गुप्त ने अजय नावरिया के उपन्यास पर लिखकर उसे 'दलित' होने से बचा लिया है। राजकुमार सैनी इतने सहृदय समीक्षक और मनुष्य हैं, जब रजिया बेगम उनके पास आई तो खुशी से गद्‌गद् (भावविह्वल) हो गए। सुशील सिद्धार्थ शैलेन्द्र सागर के प्रतिरोध पर संशयग्रस्त हैं। संजय कुंदन, मनोज-विमल पांडेय किस तरह हिन्दी कहानी में अपनी टाँगे अड़ा रहे हैं, इसका विवेचन भी मिला। रेवती रमण की समीक्षक आँखें भगवत रावत की दिल्ली में रखी लाश को पहचान लेते हैं। 'स्थापना' के उत्खनक शिवचन्द्र शर्मा को विद्याभूषण अपनी आँखों में बसाए हैं, अब तक यह बड़ी बात है। पुराने माल का पुनः प्रकाशन सराहनीय है।

भारत यायावर, हजारीबाग

'पुस्तक-वार्ता', अंक 23 बहुत अच्छा लगा। आदरणीय जानकीवल्लभ शास्त्री से विजयशंकर मिश्र का साक्षात्कार बहुमूल्य दस्तावेज है। 'लस्ट फॉर लाइफ' पर अशोक पाण्डे (हिन्दी अनुवादक) की टिप्पणी ध्यान आकर्षित करती है। नईम पर कुबेरदत्त का लेख मन को छू गया। नवगीत के क्षेत्र में नईम का वही स्थान है जो हिन्दी गजलों के क्षेत्र में दुष्यंत का है।

राजकुमार सैनी, नई दिल्ली

'पुस्तक-वार्ता' अंक-23 पढ़ी। यूँ 'पुस्तक-वार्ता' की शुरूआत से ही पाठक रही हूँ। लेकिन इन दिनों आपके सम्पादन में पत्रिका की जो नियमितता बनी, यह खुशी की बात है। खासकर इसके नए तेवर से। प्रस्तुत अंक में विरासत स्तंभ के अन्तर्गत 'द्विज' जी की रचना देकर, पाठकों को लाभान्वित किया है। और उस वक्त ज्यादा मुग्ध हो जाती हूँ, जब जानकीवल्लभ शास्त्री जी अपने साक्षात्कार में, उन्हें याद करते हैं। तब और भी गौरव होता है, पूर्णियाँ की इस धरती के रेणु, द्विज, सुधांशु, बनफूल जैसे साहित्यिक रत्नों से। पूर्णियाँ कॉलेज, पूर्णियाँ के प्रोफेसर कैलाश नाथ तिवारी ने भी 'द्विज' जी पर अच्छी पुस्तक प्रकाशित करवाई है। जिस पुस्तक का जिक्र आपने 'हंस' के किसी अंक में किया भी है।

एक अपेक्षा। 'पुस्तक-वार्ता' में एक ऐसा स्तंभ हो, जिसमें पाठकों (और रचनाकार भी) के द्वारा उनकी पसन्द की 'पुस्तकों' पर समीक्षा। पाठकीय प्रकाशित किया जाए। यह स्तंभ निश्चय ही रचनाकारों और समीक्षकों के मध्य सेतु सिद्ध होगा।

उत्तिमा केशरी, पूर्णियाँ

'पुस्तक-वार्ता' का जुलाई-अगस्त (2009) अंक पढ़ा। अंक के सम्पादकीय में आपका कथन अक्षरक्षः सत्य है कि रीतिकालीन कविता में भरी-पूरी कविता है। वास्तव में रीतिकालीन कविताओं का कला पक्ष अत्यन्त चित्ताकर्षक व प्रभावोत्पादक है। रीतिकाल के मेधावी कवियों के काव्य-कलाप को नकारने का अर्थ है एक समृद्ध परम्परा को नकारना। 'समय जुलाहा' स्तंभ के अन्तर्गत कुबेरदत्त जी ने कवि नईम के बहुआयामी व्यक्तित्व-कृतित्व को रेखांकित किया है। कवि-गीतकार नईम जी वातानुकूलित भवन में बैठकर काव्य-रचना करने वाले आकाशचारी नहीं बल्कि धरती के ताप, धूल, बदबू से रस ग्रहण करने वाले संघर्षशील योद्धा थे। उन्हें शतशत नमन। पत्रिका के सभी आलेख, रचनाएँ, समीक्षाएँ उपादेय, ज्ञानवर्धक व मानस-क्षितिज का विस्तार करने वाली हैं।

वीरेन्द्र परमार, फरीदाबाद

'पुस्तक-वार्ता' का जुलाई-अगस्त-09 अंक भारतीय भाषा परिषद कोलकाता के पुस्तक केन्द्र से खरीदा।

सम्पादकीय के सरोकार कि वास्तव में कविता ही कवि को बनाती है, सही हैं।

अन्यथा देश में हर तीसरा व्यक्ति कवि है, हम आप कितनों को जानते हैं।

कान्ति कुमार जैन का 'मैं और पुस्तकें' अच्छा लगा। राजकुमार सैनी ने लेख के लिए मेहनत की है, साफ झलकता है। आईना : मुस्लिम मन का या हिन्दी मन का? साहब! 'हिन्दी' की बजाय 'हिन्दू' प्रयोग करते, हिन्दी जाति है और 'हिन्दू' धर्म। हाँ, इसी विषय पर कोलकाता से एक पुस्तक आई है, तीन खण्डों में Religious Politics in India कालखंड है 1857-2009 तक। इसमें प्रायः सभी चिन्तकों के लेख हैं।

'लस्ट फॉर लाइफ' के अनुवाद के लिए अशोक पाण्डे धन्यवाद के पात्र हैं। 'कफन' के पहले पाठ को उसके मूल में देखकर/पढ़कर अच्छा लगा। 'साहित्य कोलाहल' से पत्रिका वर्तमान में आ गई। 'समय जुलाहा' में कुबेरदत्त ने नईम पर अच्छा कहा।

जितेन्द्र जितांशु, कोलकाता

'पुस्तक-वार्ता' की सम्पादकी सम्भालने के लिए बधाई। चूँकि इस पत्रिका का प्रकाशक महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय है, इसलिए ज्यादा जरूरी लगता है कि 'हिन्दी वर्तनी की अनेकरूपता' को समाप्त करने का प्रयास आपकी ओर से हो। इसका प्रसार-क्षेत्र अहिन्दी क्षेत्र में भी है, इस लिहाज से भी अगर कोई कॉलम वर्तनी/भाषा पर केन्द्रित हो सके तो हितकर होगा। वर्तनी की अराजकता किसी भी भाषा का दोष होता है। हिन्दी के प्रसार में यह भी एक बड़ी बाधा बन जाता है।

अफसोसजनक यह है कि आज हिन्दी में ऐसी पत्रिकाएँ नहीं दिखतीं, जो भाषा का आदर्श सम्मुख रखकर छपती हों। महत्त्वपूर्ण लेखों में भी वर्तनीगत त्रुटियाँ तथा छपाई सम्बन्धी भूलें यत्र-तत्र खटकती हैं। इसी तरह का निवेदन मैंने 'नया ज्ञानोदय' के सम्पादक श्री रवीन्द्र कालिया जी से किया है कि वर्तनी की एकरूपता का ध्यान रखा जाए, तो हिन्दी एवं हिन्दी-समाज का भला होगा।

जैसा कि 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी-वर्तनी अनेक रूप थी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से उसके स्वरूप का स्थिरीकरण करने का वृहद प्रयास किया था। नागरी प्रचारिणी सभा, आ. रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. श्याम सुन्दर दास, कामता प्रसाद गुरु, किशोरी दास वाजपेयी और बाद में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. माता प्रसाद गुप्त, डॉ. हरदेव बाहरी आदि ने सघन प्रयास करके यथासम्भव वर्तनी की अराजकता को दूर किया।

जयशंकर तिवारी, उ.प्र.
(कल्पना पत्रिका द्वारा कभी हिन्दी वर्तनी का मानकीकरण किया गया था। परिशिष्ट में यह संलग्न है **सम्पादक**)

पुस्तक-वार्ता लखनऊ में नहीं मिल पाती है, यदि आप करंट बुक डिपो, कपूरथला हाउस अलीगंज या कॉफी हाउस, हजरतगंज के किसी स्टाल पर भिजवाने की सलाह प्रबन्धन को देने का कष्ट करें, तो यहाँ के पाठकों को आसानी होगी। मेरे पास मई-जून 09 का अंक है। इस अंक में आपने बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री दी है। रमेश उपाध्याय, मधुरेश, दामोदर दत्त दीक्षित, द्रोणवीर कोहली, रामनिरंजन परिमलेंदु, कुबेरदत्त के लेख विशेष रूप से ध्यान खींचते हैं।

ब्रजेश, लखनऊ

'पुस्तक-वार्ता' का जुलाई-अगस्त 09 का अंक पढ़ा। अंक की उपलब्धि 'लस्ट फार लाइफ' का अंश, एक विरासत के तहत 'प्रेमचन्द की उपन्यास कला एवं प्रेमचन्द' डॉ. रामविलास शर्मा है। सभी सामग्री पठनीय एवं सर्जनात्मक है। पुस्तकों से अपने सम्बन्ध के सन्दर्भ में कान्ति कुमार जैन का आलेख भी पठनीय है।

आपका सम्पादकीय कविता के सन्दर्भ में प्रासंगिक है एवं घनानन्द का 'मोहि तो मेरे कवित्त बनावत' समकालीन सन्दर्भों में बहुत प्रासंगिक हैं।

विवेक सत्यांशु, शिवनगर

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की पत्रिकाएँ

पुस्तक-वार्ता
संपादक : भारत भारद्वाज
मूल्य : 20/- प्रति अंक

Hindi
संपादक : ममता कालिया
मूल्य : 125/- प्रति अंक

पत्रिकाएँ मँगवाने के लिए सम्पर्क करें :

प्रकाशन विभाग,
क्षेत्रीय विस्तार केंद्र,
महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र,
फेज-II, नई दिल्ली-110020
फोन : 011-26387365
तार : हिन्दीविश्व
E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com